मंगलाचरणम् ।

कणभक्षमक्षचरणं जैमिनि-कपिलौ पतञ्जलिञ्च नुमः

श्रीमद्व्यास-वचोऽम्बुधि-नय-शीकर-वर्षिणो मुदिरान् ।

महाभारत व्याख्याकार—प० नीलकण्ठ ।

समर्पणम् ।
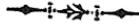
कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा,

बुद्ध्याऽऽत्मना वाऽनुसृत-स्वभावात् ।

करोति यद् यत् सकलं परस्मै,

नारायणायेति समर्पयेत्तत् ॥

—महर्षि व्यासदेव ।

भूल सुधार।

—:❋:—

प्रेसके भूतोंकी कृपासे पुस्तकमें बहुतसी अशुद्धियां छप गयीं हैं। आशा है कि हमारे सहृदय पाठक उन्हें सुधारकर पढ़ेंगे। प्रस्तावनाके ७७ वें पृष्ठकी पाद-टिप्पणीमें एक श्लोककी बड़ी दुर्दशा हुई है। उसे शुद्ध रूपमें यों पढ़ना चाहिये—

"राजन् प्रतिग्रहो राज्ञां मध्वास्वादो विषोपमः।
तज्जानमानः कस्मात्त्वं कुरुषे नः प्रलोभनम्।"

प्रकाशक।

भारतीय दर्शन-शास्त्र
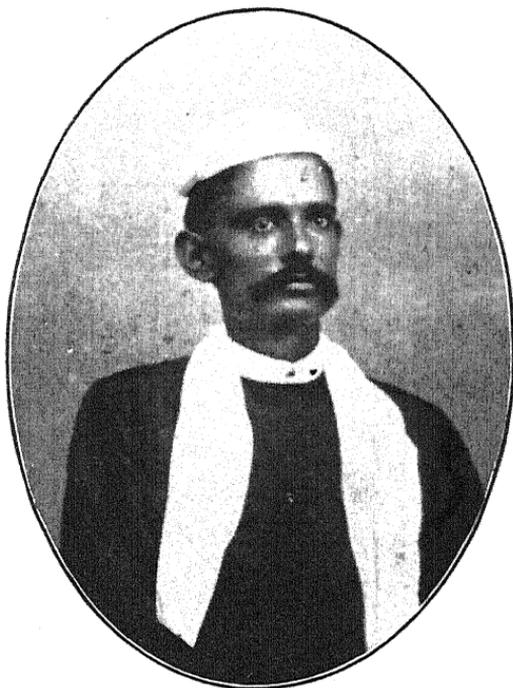
स्वर्गीय प० माधवप्रसादजी मिश्र।

॥ श्रीहरिः ॥

स्वर्गीय पं० माधवप्रसादजी ।

(संक्षिप्त जीवन-चरित)

गाहितमखिलं गहनं परितो दृष्टाश्च विटपिनः सर्वे ।
सहकार न प्रपेदे मधुपेन तवोपमा जगति ॥

—पण्डितराज जगन्नाथः ।

प्राक्कथन ।

ह संसार परिवर्तनशील है । उतार-चढ़ावका चक्र यहां निरन्तर घूमता रहता है । 'कभी नाव गाड़ीपर और कभी गाड़ी नावपर' वाली कहावत प्रसिद्ध ही है । दूसरे शब्दोंमें यों कहा जा सकता है कि इस विश्व-ब्रह्माण्डके सभी पदार्थोंका उत्थान और पतन है । हमें आकाशमें जो तारे दिखायी देते हैं, उनमेंसे कभी कोई अपनी पूर्ण प्रभाके प्रकाशकी चमक दिखाने लगता है और कभी किसीकी ज्योति नाममात्रके टिमटिमाते हुए दीपककी भांति क्षीण हो जाती है । इस पृथ्वीपर कहीं मरु-भूमि सुन्दर नयनाभिराम नगरके रूपमें परिणत देखी जाती है और कभी सुन्दर अमरावतीके समान मनोहर नगर विजन अरण्यके रूपमें बदल जाते हैं । यह तो हुई प्रकृतिकी लीला । जीव और

मानव जगत्में भी इसी प्रकार उत्थान और पतनका खेल रात दिन आंखोंके सामने होता रहता है। यह उत्थान और पतन ही संसारकी क्रिया है।

मनुष्य, पशु और देवताके बीचका जीव हैं। उसका उच्चतर आदर्श है देवता और निम्नतर पशु। मनुष्य जब जिस आदर्शकी ओर अधिक झुक जाता है, तब उसकी मति-गति सब उसी ओर लग जाती हैं। सारांश यह कि मानव जब देवताके आदर्शको लेकर काम करता है, तब उसमें देवत्वका प्रतिबिम्ब परिलक्षित होने लगता है, अथवा यों समझ लीजिये कि उसकी उन्नतिका स्रोत बहने लगता है। इस प्रकार वह देवत्वकी ओर ही अधिक अग्रसर होता है। इसीका नाम उन्नति-क्रिया है और यही मनुष्यके प्रकृत सुखका कारण है। किन्तु दूसरी ओर मनुष्यके लिये पाशविक आकर्षण भी कुछ कम बल रखनेवाला नहीं होता। स्थल और समय-विशेषपर पाशविक आकर्षणमें देव प्रभाव छिप जाता है और मनुष्य पाशविक सुख और आमोदमें मद-मत्त हाथीकी भांति अन्धा बन जाता है। उसमें विलासिताका प्रादुर्भाव और इन्द्रियोंकी उद्दाम प्रवृत्तिकी सजीव क्रिया दिखायी देती है। मनुष्य इहलौकिक और पारलौकिक अधः पतनके गहरे गढ़ेकी ओर बढ़ने लगता है। धीरे धीरे वह घोर अज्ञान-पङ्कमें निमज्जित हो जाता है और फिर उसके लिये मनुष्य-चेष्टासे उद्धारका कोई उपाय

रह नहीं जाता। उस समय सर्वान्तर्यामी भगवान्‌का आसन हिलता है। करुणामय भगवान्‌का मन मनुष्योंकी दुरवस्थासे व्यथित हो उठता है। उस दशामें अज्ञानके अन्धकारको दूर करनेके लिये उनकी अपनी ज्योति मनुष्य समाजमें विकसित होती है। यही अवतार तत्त्व है। इस शक्तिके विकासका भी परिमाण है। यहां इस विषयमें अधिक लिखनेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि अंशावतार और पूर्णावतारका रहस्य हमारे विचारशील पाठकोंसे अज्ञात नहीं है।

अवतार न होनेपर भी समय समय पर साधारण मनुष्योंमें-से किन्हीं किन्हींमें भगवान्‌की शक्तिका क्षीण प्रकाश दिखायी देता है और वह प्रकाश अज्ञान एवं अन्ध विश्वासके घोर अन्धकारमें फंसे हुए मनुष्योंको मार्ग दिखानेका काम करता है। देश एवं समाजमें जागृति पैदा होती है। लोगोंकी आंखें खुल जाती हैं। साधारणतः सभी देशों और समाजोंमें भगवान्‌की इन शक्तियोंका प्राडुर्भाव होता रहता है। ये शक्तियां अपनी विशेषताओंको लेकर आती हैं और उन विशेषताओंको अपने ही साथ ले जाती हैं। जिन्होंने स्वर्गीय **पं० माधवप्रसादजी मिश्र** के कार्य-कलापको ध्यान पूर्वक देखा है, सुना है, समझा है, अथवा समझनेकी चेष्टा की है, उनके लिये मिश्रजीके विशेषत्वको अस्वीकार करनेका कोई मार्ग नहीं है। मिश्रजीका विरोधी भी (यदि कोई हो) उनकी असाधारण सङ्गठन-शक्ति, अदम्य उत्साह

और अपूर्व तेजस्विताके लिये 'ना' नहीं कह सकता। अपने तेजस्वी लेखों, भावपूर्ण कविताओं, सार-गर्भ वक्तृताओं तथा सतत प्रयत्नोंसे आत्म-विस्मृत भारतवर्ष—विशेषतया हिन्दू जातिको जगानेका जिन महानुभावोंको श्रेय प्राप्त है; उनकी शुभ नामावलीमें परिडत माधवप्रसादजीका नाम अमिट लिपिसे लिखा रहेगा।

मिश्रजीका जन्म।

पञ्जाब प्रदेशान्तर्गत हिसार जिलेमें भिवानीके समीपवर्ती ग्राम कूंगड़में विक्रम संवत् १९२८ के भाद्र मासकी शुक्ला सर्व-सिद्धा त्रयोदशीको परिडत माधवप्रसादजी मिश्रने जन्म ग्रहण किया था। कीचड़में ही कमल पैदा होते हैं। वनकी झोपड़ियोंमें ही दर्शन-शास्त्रके रचयिता हमारे त्रिकालदर्शी लोक-पावन पूजनीय ऋषियोंका आविर्भाव हुआ था। प्रायः देखा गया है कि गांव ही असाधारण प्रतिभाशाली महानुभावोंके जन्म स्थान होनेका गौरव रखते हैं। जिस कूंगड़की भूमिमें प्रसिद्ध वृत्ति-प्रभाकर-कार वेदान्तविद् साधु निश्चलदास जैसे त्यागी महात्मा उत्पन्न हो सकते हैं,वह कूंगड़ यदि मिश्रजी जैसे नर-रत्नकी जननी जन्म भूमि होनेका सौभाग्य प्राप्त करे तो इसमें आश्चर्य ही क्या है?

मिश्रजीके पुराय-श्लोक पूज्यपाद पितामह और पिता प० जयरामदासजी एवं परिडत रामजीदासजी संस्कृतके ख्याति-लब्ध

विद्वान् थे। हरियाना प्रान्त और कुरु-क्षेत्रमें उनके पाण्डित्यका बड़ा प्रभाव और प्रतिष्ठा थी। भिवानीके क्षमताशाली रईस हल-वासियोंके विशेष आग्रहसे पण्डित जयरामदासजी भिवानी आ बसे थे। किन्तु कूंगड़से आपका सम्बन्ध टूटा नहीं—बना ही रहा।

शिक्षा।

मिश्रजीके पिता पण्डित रामजीदासजीके संस्कृतके नामी विद्वान् होनेसे उन्हें पढ़नेके लिये किसी पाठशालामें भर्ती नहीं होना पड़ा। घर पर ही आपकी पढ़ाई चलती रही। प्रतिभाशाली व्यक्तिमें एक ऐसी असाधारण शक्ति रहती है कि जो उसे दूसरों-से बड़ा बना देती है। यह शक्ति जिसमें होती हैं, उसका परि-चय बचपनमें ही मिलने लग जाता है। भस्माच्छादित अग्नि जिस तरह अपनेको अधिक समये तक छिपा नहीं सकती, उसी तरह प्रतिभाकी प्रभाको भी कोई रोक नहीं सकता। साधारण स्थान और कालमें वह शक्ति प्रायः बद्ध नहीं रह सकती। अपना असाधारणत्व किसी न किसी तरह वह प्रकट करती ही है। हमारे चरित्र-नायक पण्डित माधवप्रसादजीकी प्रतिभाका परि-चय भी लोगोंको उसी अवस्थामें मिलने लग गया था।

जिस प्रकार वह पढ़नेमें तेज थे, उसी प्रकार दूसरे दूसरे कामोंमें भी उनकी खटपट जारी रहती थी। सभा-समितियोंके

बनाने और समाचार-पत्रोंके पढ़नेकी उसी समयसे आपको शौक लग गयी थी। आन्दोलन-प्रियता भी आपके हृदयमें आसन जमा चुकी थी। बाल्यावस्थामें दादी और माताकी शिक्षाका प्रभाव बच्चोंपर खूब पड़ता है। उस समय अच्छे वा बुरे जो संस्कार जम जाते हैं, वे जन्मभर दूर नहीं होते। उस समयके जमे हुए विश्वासको कभी कोई हिला नहीं सकता। मिश्रजीके हृदय-पटल पर भी उनकी पितामही द्वारा धर्मभावका निर्मल चित्र अङ्कित हो चुका था। वह बड़ी हरि-भक्ति-परायणा साध्वी थीं। श्रीमद्-भागवत, रामायण और महाभारतकी प्रायः सभी कथाएं उनको कण्ठस्थ थीं। मीरा बाई और सूरदासजीके बहुतसे भजन उनको याद थे। भगवान्‌की सेवा पूजामें ही उनका समय बीतता था। वह अपने प्रिय पौत्रको कथा-कहानियां सुनाकर, भजन गाकर धर्मका तत्त्व और भगवद्भक्तिका रहस्य समझाती रहती थीं। मिश्रजीका भी दादीकी बातोंमें बड़ा मन लगता था और वह बड़े प्रेमसे उनकी कथाओंको सुनते थे। यहां तक कि रातको नींद् भी आपको दादीके मुँहसे कहानी सुन लेने पर ही आती थी। उधर अपने पूज्य पिताजीसे व्याकरण, पुराण और धर्म-शास्त्रादिकी शिक्षा प्राप्तकर संस्कृतमें अच्छी व्युत्पत्ति लाभ कर ली। किन्तु आपकी शिक्षाकी पिपासा शान्त नहीं हुई। शिक्षा प्राप्त करनेके उद्देश्यसे आप घरसे निकल पड़े। बुलन्दशहर जिलेके डासनास्थ छत्रपति पण्डित श्रीधरजीके पाण्डित्यकी उन दिनों

बड़ी धूम थी। मिश्रजी उनके पास पहुंचे और पढ़ने लगे। तदनन्तर आप विद्याके धाम काशी आ गये। वहां सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र महामहोपाध्याय स्वर्गीय पण्डित राममिश्र शास्त्रीजीसे आपने आनुपूर्वीसे दर्शन–शास्त्रकी शिक्षा पायी और पण्डित उमापतिजी (प्रसिद्ध पं० नकछेदराम तिवाड़ी) से साहित्यका अध्ययन किया। उर्दू, बङ्गला, मराठी, गुजराती और गुरुमुखी आदि भाषाओंमें भी आपको पूरी गति हो गयी। आप उक्त भाषाओंके साहित्यका मर्म समझनेमें दत्त-चित्त हो गये थे। सरस्वतीकी उपासना कभी व्यर्थ नहीं जाती। मिश्रजीने अन्तः करणसे वाग्देवीकी आराधना की थी। इस लिये उनकी मनस्कामना पूर्ण हुई। गुरुकी कृपाका प्रसाद मिश्रजीको मिल गया।

कार्य-क्षेत्रमें प्रवेश।

षोड़श वर्षकी अवस्थामें विवाह हो जानेपर भी मिश्रजीके अध्ययनका क्रम २५ वर्षकी अवस्था तक ज्योंका त्यों बना रहा। तदनन्तर सं० १९५२ में आपके पूज्य पिताजीका स्वर्गवास हो गया। विद्वान् पिताकी सुशीतल छाया आपके मस्तक परसे उठ गयी। यद्यपि आपके सहोदर पण्डित राधाकृष्णजी मिश्रने घर-गृहस्थीके भारको संभाल लिया, जिससे उस चिन्तासे तो आप बरी हो गये, तथापि अन्यान्य सांसारिक बन्धनोंसे आप मुक्त कैसे हो सकते थे? अगत्या आपके जीवनकी मन्दाकिनी अध्ययनकी ओरसे मुड़कर कार्यक्षेत्रकी ओर प्रवाहित हुई।

आपामर साधारणकी जीवन-प्रणाली जिस प्रकार एक ढर्रेकी होती है, प्रतिभाशालीका जीवन उस प्रकार संकुचित परिधिमें आवद्ध नहीं रहता। उसका क्षेत्र बड़ा विस्तीर्ण होता है। प० माधवप्रसादजी यदि चाहते तो केवल भिवानी—हरियानाके और अधिकसे अधिक शेखावाटीके निवासियोंसे अपना सम्बन्ध रखकर आनन्द और प्रतिष्ठाके साथ जीवन यापन कर सकते थे। परन्तु यह कब हो सकता था? मिश्रजीका हृदय बड़ा विशाल था। उनका ममत्व समस्त देशपर समान भावसे था। कभी प्रान्तीयताके संकुचित विचारोंने उनके चित्तमें स्थान न पाया। वह भारतको अपना देश और भारतवासियोंको अपना आदरणीय भाई समझते थे। उन्होंने जितने कार्य किये, इस लक्ष्यको सदैव सामने रखा। उनका जीवन ही कर्म-मय था। वह कभी अतीतकी निष्फलताको याद कर कार्य करनेसे विरत नहीं हुए। मिश्रजी कर्म करते थे अपने धर्म, अपने देश और अपने समाजके लिये। यही कारण है कि आज हम उनके पवित्र नामका स्मरण कर अपनेको धन्य मान रहे हैं।

स्वभाव।

अपनी रुचि और प्रवृत्ति, मान एवं अपमान, आयास और श्रम—क्लेश- इन सबको एक तरफ डाल, सभी स्थानोंमें यथा सम्भव सन्धि और सामञ्जस्य साधन कर अपने लक्ष्यका अनु-

सरण करना मिश्रजीके स्वभावकी विशेषता थी। अविचलित धैर्य, जो वीरत्वका लक्षण है उससे मिश्रजीका हृदय पूर्ण था। निन्दा-स्तुति—दोनोंकी ही समान भावसे उपेक्षा कर अपने अभीष्टकी सिद्धिके पथमें चलनेकी शक्तिके भीतर जो साहसिकता छिपी रहती है, वह साहसिकता—मिश्रजीमें पूरी मात्रामें थी। उन्होंने कभी किसी धनिकको खुश करनेकी चेष्टा न की। सत्य बात कहनेमें वह कभी पश्चात्पद न हुए। गुरुओंके भी दोषोंको प्रकट करनेमें वह कभी नहीं हिचके। महामहोपाध्याय स्वर्गीय पण्डित राममिश्रजी शास्त्रीकी भी "तुरीय मीमांसा"के लिये उन्होंने खबर ले डाली थी। भारतधर्म-महामण्डलको सुव्यवस्थित करनेके प्रश्नको लेकर वह डट गये थे। धर्मके लिये उन्हें अपने चिरन्तन मित्रोंका भी विरोध करना पड़ा था। भारतधर्म-महामण्डलके सर्वस्व श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज मिश्रजीसे एकान्त प्रीति रखते थे। परन्तु मधुसूदन-संहिताके प्रकाशित होने पर जब मिश्रजीने देखा कि स्वामीजीका यह सारा प्रयास अपनेको अवतार सिद्ध करनेके लिये है, तब उस समय उन्होंने स्वामीजीके प्रेमकी पर्वाह न की और अन्तमें वह उस संहिताका बहिष्कार करा कर माने। मिश्रजीके इस खरेपनसे उनके कितने ही मित्र भी समय समय पर नाराज हो जाते थे परन्तु उनकी नाराजगी मिश्रजीके सिद्धान्तको बदल देनेमें कभी समर्थ न हुई। स्वयं कष्ट पाकर भी अपने विपद्ग्रस्त मित्रोंकी सहायता करते रहना

मिश्रजीका साधारण नियम था। कार्यको आरम्भकर देनेपर जबतक उसको पूर्ति न हो जाती तबतक उन्हें चैन न पड़ता था। मिश्रजी धार्मिक, सामाजिक, राजनैतिक और साहित्यिक विवादों—मुटभेड़ोंमें कितनी ही बार प्रवृत्त हुए, किन्तु पराभूत कभी न हुए। सभा-समितियोंमें भी वह कभी किसीसे न दबे। साधारण आदमीकी भी उचित बातको मान लेनेमें उन्हें आपत्ति न हुई और अनुचित बातके लिये स्वाधीन नरपतिके मतका भी प्रत्याख्यान कर देनेमें वह न चूके।

दिल्लीमें जिस समय लार्ड कर्जनका शानदार दरबार हुआ था, उसी समय भारत-धर्म-महामण्डलने अपना एक ठाठदार जल्सा किया था। उस अवसरपर श्रीमान् काश्मीर नरेशके प्रभावमें आकर लोग चुपचाप एक ऐसा प्रस्ताव पास कर रहे थे कि जो सबकी आत्माके विरुद्ध था। जितने राजा, महाराजा एवं महा-महोपाध्याय, परिडत, वक्ता, महोपदेशक वहां उपस्थित थे, सबके सब चित्रवत् बैठे रह गये—किसीसे कुछ कहते न बना। यह दुर्दशा देख प० माधवप्रसादजीसे चुप न रहा गया। वह खड़े हुए, बोले और बड़ी तेजस्वितासे बोले। उन्होंने "श्रीमान् काश्मी-राधिपति नरेश हैं किन्तु धर्मेश नहीं" यह कहते हुए उस प्रस्ता-वका खण्डन कर दिया, केवल यही नहीं प्रत्युत् अपने तर्क-बलसे उसे रद करा दिया। यह तो हुई धार्मिक-क्षेत्रकी बात। उधर राजनैतिक-क्षेत्रमें भी बड़ेसे बड़े नेताके अनुचित मतका वह तीव्र

प्रतिवाद कर देते थे। सिद्धान्तोंमें लोकमान्य तिलक मिश्रजीको अपना सहायक समझते थे। तेईसवीं कांग्रेसका स्मरणीय अधिवेशन कलकत्तेमें परलोकवासी डा० दादाभाई नौरोजीके सभापतित्वमें हुआ था। उस समय देश-पूज्य माननीय प० मदनमोहन मालवीयजीने सिद्धान्तोंमें मतभेद होनेके कारण लोकमान्य तिलककी नीतिका विरोध किया था और लोकमान्यके प्रयाग पधारने पर उनके आतिथ्य-सत्कारमें भी उदासीनता ही दिखायी थी। उस समय मिश्रजीने एक खुली चिट्ठी माननीय मालवीयजीके नाम लिखी थी। वही चिट्ठी उनकी अन्तिम चिट्ठी है, जो उनके वैकुण्ठवासके बाद संवाद-पत्रोंमें प्रकाशित हुई। उसके शब्द शब्दमें ओज भरा हुआ है। वह चिट्ठी प० माधवप्रसादजीके राजनैतिक विचारोंकी झलक कही जा सकती है। कुछ विलक्षण-मति गतिके नेताओंने उस समय यह उपदेश देना भी आरम्भ किया था कि विद्यार्थियोंको राजनैतिक कामोंसे अलग रहना चाहिये, उसके निराकरणमें, "विद्यार्थी और राजनीति" शीर्षक एक सार-गर्भित लेख मिश्रजीने प्रकाशित कराया था, जिसमें यह सिद्ध किया गया था कि भारतके विद्यार्थी सदासे राजनीतिमें भाग लेते आये हैं और उन्हें सदैव सोत्साह राजनैतिक आन्दोलनोंमें सम्मिलित होना चाहिये।

धर्म-सेवा।

मिश्रजी धार्मिक थे, परन्तु धर्मान्ध नहीं थे। धर्मके नामपर

जो ढोंग होता है, उसके वह विरोधी थे। श्रुति-स्मृति-पुराण-प्रतिपाद्य सनातन धर्ममें उनकी पूरी आस्था थी और उसके वह बड़े जबर्दस्त प्रतिपादक थे। उनके प्रयत्नसे देशमें कितनी ही सनातन धर्मसभाएँ प्रतिष्ठित हुई थीं।

हरियाना प्रान्तमें जिन लोगोंने सती-धर्मके विपरीत विधवा-विवाह कर हिन्दू-समाजकी पवित्रताको नष्ट करना चाहा था, पञ्चायती-संगठन द्वारा उनके उस दुस्साहसको तोड़ना मिश्रजी जैसे शक्तिशाली व्यक्तिका ही काम था। भिवानीकी धर्मसभाके आदि संस्थापक मिश्रजी ही थे। पुराने और नये भारत-धर्म-महा-मण्डलके नेताओंमें आप मुख्य थे। महामण्डलको विधि-बद्ध करानेमें मिश्रजीने जो अविराम परिश्रम किया था, उसे आज महामण्डल चाहे भूल जाय, किन्तु सनातन-धर्मी संसार सदा स्मरण रखेगा। उस समय महामण्डलका एक पान भी मिश्रजी-की सम्मति बिना नहीं हिलता था। स्वधर्म और ब्राह्मण जातिके प्रति लोगोंके उपेक्षाके भाव देख कर सं० १९६० में कलकत्तेमें मिश्रजीने अपने मित्र प० कन्हैयालालजी गोपालाचार्य, प० शंभू-रामजी पुजारी, प० भूरालालजी मिश्र, प० बालमुकुन्दजी पुजारी प० केदारनाथजी बावलिया, प० उमाशङ्करजी वेदपाठी, प० रामदयालुजी मिश्र, प० श्रीनारायणजी वैद्य, प० बालमुकुन्दजी वैद्य प० हीरालालजी शर्मा और प० रामचन्द्रजी जोशी प्रमुख सज्जनोंको उत्साह दिलाकर "कलकत्ता-ब्राह्मण-सभा"की स्थापना

करायी थी। श्रीमान् दर्भंगानरेश सर रमेश्वरसिंह बहादुरको उसके स्थायी सभापतिका पद दे दिया गया था। कलकत्ता-ब्राह्मण-सभा द्वारा समय समयपर अनेक धार्मिक और सामाजिक सुधारके कार्य सम्पन्न हुए हैं। यह सभा अब तक प० कन्हैयालालजी गोपालाचार्यके उत्साहसे स्वर्गीय मिश्रजीकी स्मारक स्वरूप बनी हुई है।

उपाधि-त्याग।

मिश्रजी बड़े सादगी-पसन्द थे। आडम्बरसे उन्हें घृणा थी। उपाधि-प्रदानका उस समय बड़ा दौर-दौरा था। मिश्रजीको भी उनके स्वरूपानुरूप भारत-धर्म-महामण्डल, बङ्गालकी विबुध-जननी सभा, बम्वई प्रान्तकी सनातन-धर्म-परिषद् आदि संस्थाओं तथा जगद्गुरु श्रीमच्छङ्कराचार्य प्रभृति महानुभावोंने कितनी ही वार विविध उपाधियां प्रदान करनी चाहीं। किन्तु उपाधियों और स्वर्ण-पदकोंका प्रलोभन क्या मिश्रजी जैसे कर्तव्य-निष्ठ सज्जनको अपनी ओर खींच सकता था? जब जब अवसर आया, तब तब उन्होंने उपाधिको अस्वीकार कर दिया। मिश्रजीका सिद्धान्त था कि "सोपाधिक जीवनसे निरुपाधिक जीवन बहुत उत्तम है।"

समाज-सुधार।

उन्नतिके मैदानमें पिछड़ी हुई लुप्तप्राय मारवाड़ी जातिको

जगानेका आरम्भमें जो उद्योग हुआ था, उसमें मिश्रजीका पूरा हाथ था। उन्होंने मारवाड़ी-समाजको समझाया था कि "बाल-विवाह और वृद्ध-विवाह तुम्हारे सर्वनाशके मूल हैं। स्त्रियोंका अश्लील-सीठने गाना बहुत बुरा है। वैश्योंकी स्त्रियोंका ब्राह्मणियोंसे पावोंमें मेंहदी लगवाना महा-पाप है। सारी उन्नतियां विद्या-प्रचार पर अवलम्बित हैं।" कलकत्तेके मारवाड़ियोंके कीर्ति-स्तम्भ श्रीविशुद्धानन्द-सरस्वती-विद्यालयकी स्थापनाके इतिहासमें व्याख्यान-वाचस्पति प० दीनदयालुजी शर्माके साथ साथ स्वर्गीय प० माधवप्रसादजी मिश्र एवं बा० बालमुकुन्दजी गुप्त—इस युगल-मूर्तिका नाम-कीर्तन न करना बड़ी भारी अकृतज्ञता है। मारवाड़ी जातिके सुधारकी इच्छासे मिश्रजीने प्रसिद्ध मारवाड़ी कवि एवं लेखक स्वर्गवासी बा० शिवचन्द्रजी भरतिया और राम प्रेसके अध्यक्ष बा० रामलाल नेमानीजीको उत्साह दिला कर वैश्योपकारक नामका एक सचित्र मासिक पत्र निकलवाया था, जिसका सम्पादन भरतियाजी करने लगे थे। किन्तु दो महीने बाद ही उसके सम्पादनका भार भी मिश्रजीको लेना पड़ा। वैश्योपकारक किस श्रेणीका पत्र बन गया था; यह बतानेकी आवश्यकता नहीं। मिश्रजीके लेख जादूकासा असर करते थे। मिश्रजीकी कविता चित्तमें चुभ जाती थी। स्वर्गीय बा० ज्ञानीरामजी हलुवासिया, स्वर्गीय बा० फूलचन्दजी हलुवासिया; बा० गुलाब राय जी पोद्दार, बा० जयनारायणजी पोद्दार, बा० रङ्गलालजी पोद्दार,

बा० रूड़मल्लजी गोएनका, बा० रामकुमारजी जालान, स्वर्गीय बा० राधाकृष्ण टीबड़ेवाल, स्व० बा० रामलालजी नेमानी, प० भूरालालजी मिश्र, प० शम्भूरामजी पुजारी, प० सी० एल० शर्मा प्रभृति मिश्रजीके शक्तिशाली हाथ थे, जो कलकत्तेमें समाज सुधारका काम करनेमें निरन्तर चलते रहते थे।

राजनैतिक आन्दोलनमें भाग।

प० माधवप्रसादजीको धार्मिक और सामाजिक जीवनमें सुधारके साथ शक्ति-सञ्चार करनेके लिये ही भगवान्‌ने वरण नहीं किया था, किन्तु राष्ट्रीय जागृति उत्पन्न करना भी उनका व्रत था। इसलिये देशकी राजनैतिक स्थितिपर वह पूरा ध्यान रखते थे और राष्ट्रीय कामोंमें बड़े प्रेम तथा उत्साहके साथ योग देते थे। वङ्गभाषाके सिद्ध-हस्त लेखक स्वनाम-धन्य स्वर्गवासी प० सखाराम गणेश देउस्करजीने वङ्गालमें छत्रपति शिवाजीके उत्सवकी नींव डालनेका जो प्रशस्य प्रयत्न किया था, उसमें मिश्रजीने बड़ा भाग लिया था। दो वार भारतकी प्रकृति-पुञ्जके हृदयराज्यके महाराज लोकमान्य तिलक कलकत्ते पधारे और दोनों हो वार मिश्रजीके उद्योगसे उनके स्वागतका अनुष्ठान ससमारोह सम्पन्न हुआ। मिश्रजीकी कृपासे ही पहले पहल बड़े-बाजार निवासियोंको तेईसवीं कांग्रेसके अवसरपर पधारे हुए कई एक राजनैतिक नेताओंके देश-दशा-सूचक व्याख्यान सुननेका

सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसके सिवा देशके अन्य राजनैतिक कार्यों में भी वह परोक्ष या अपरोक्ष रूपसे भाग लेते रहते थे।

साहित्य-सेवा।

मिश्रजीके साहित्य-सम्बन्धी जीवनकी आलोचना करनेके लिये जिस योग्यताकी आवश्यकता है, मैं अपनेमें उसका अभाव देखता हूं और यदि जैसे तैसे साहस कर अपनी बुद्धिके अनुसार कुछ जोड़ तोड़ मिलाऊं भी तो 'संक्षिप्तता' की परिधि मुझे विस्तृतिकी ओर बढ़नेसे रोकती है। इसलिये मैं पाठकोंको यहां उनकी साहित्य सेवाका परिचय मात्र दे देना चाहता हूं। मिश्रजी संस्कृतके जैसे मार्मिक विद्वान् थे, वैसे ही हिन्दीके सर्वोत्कृष्ट चिन्ताशील लेखक और प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। मिश्रजीकी गद्य-रचनाका स्वारस्य यदि किसीको लेना हो, तो वह कृपाकर 'विशुद्ध चरितावली' को एक वार पढ़ जायं। भाव और भाषापर मिश्रजीका कितना अधिकार था, इसका उन्हें अच्छी तरह पता चल जायगा। मिश्रजीके मौलिकता-पूर्ण लेखों और मर्मस्पर्शी भाव-पूर्ण कविताओंमें सजीवता रहती थी। क्या धार्मिक, क्या राजनैतिक और क्या सामाजिक—जितना भी गद्य-पद्यात्मक साहित्य मिश्रजीकी लेखनीसे निकला, वह विशेषतासे शून्य नहीं है। मिश्रजीकी स्मृति-शक्ति विलक्षण थी। उसीके बलसे शब्द-सम्पद्-शाली शास्त्रोंके अवतरण, संसारके प्रसिद्ध इतिहास-

कारोंके वाक्य और भारतीय अन्य भाषाओंके साहित्यका विषय उनकी वाणीपर विराजमान था और इसलिये वह अपने आलोच्य विषयका प्रमाणोंकी पुट देकर ऐसे विशद भावसे स्पष्टीकरण करते थे कि बस, उसके सम्बन्धमें फिर कोई बात जिज्ञासाके लिये रह नहीं जाती। मिश्रजीने काशीके लहरी प्रेसके मालिक चन्द्रकान्ताके लेखक स्वर्गवासी बाबू देवकीनन्दनजी खत्रीकी सहायतासे अपनी सम्पादकतामें सन् १६०० ई० में 'सुदर्शन' नामक मासिकपत्र निकाला था और कलकत्तेसे वैश्योपकारक। ये दोनों ही पत्र हिन्दी-साहित्यकी शोभाके सम्वर्द्धक थे। इसके सिवा प्रयागके तत्सामयिक पत्र राघवेन्द्र, प्रयाग-समाचार, बम्बईके श्रीवेंकटेश्वर-समाचार, कलकत्तेके भारतमित्र और हिन्दी-बङ्गवासी प्रभृति पत्रोंमें मिश्रजीके लेख और कविताएं छपती रहती थीं। कलकत्तेमें आपके प्रयत्नसे एक हिन्दी-साहित्य-सभा भी स्थापित हुई थी, जिसके सभापति बनाये गये थे बाबू फूलचन्दजी हलुवासिया और मन्त्री बाबू शिवचन्द्रजी भरतिया। कोषाध्यक्ष बा० तुलारामजी गोएनका नियत हुए थे। श्रीयुक्त बा० रूड़मलजी गोएनकाके भव्य भवनमें इस सभाकी बैठकें होती थीं। हिन्दी-साहित्य-सभाका कितना प्रभाव-विस्तार हो गया था, इसका अनुमान केवल इसीसे किया जा सकता है कि पण्डितवर गोविन्दनारायणजी मिश्र जैसे हिन्दी-साहित्यके महारथी विद्वान् उसके अधिवेशनोंमें विविध

विषयोंपर गम्भीर-गवेषणा-पूर्ण निबन्ध पाठ करते थे।

मिश्रजीकी रचनाओंमें विशुद्ध चरितावली (प्रथम भाग), भारतीय दर्शन (अपूर्ण), परमहंस रामकृष्णकी जीवनी और उपदेश, सम्राट् विक्रमादित्य, हमारी सप्तपुरी, आदि कितने ही प्रकाशित और अप्रकाशित ग्रन्थ हैं। इसके अतिरिक्त प० सखारामगणेश देउस्करजी-लिखित जिस 'देशेर कथा' ने कर्तव्य-विस्मृत बङ्गालको आत्म-बोध कराया,उसका पण्डित अमृतलालजी चक्रवर्त्तीके साथ मिलकर उन्होंने हिन्दी अनुवाद भी 'देशकी बात' के नामसे प्रकाशित कराया था। उस पुस्तको बम्बईके श्रीवेङ्कटेश्वर-प्रेसाध्यक्ष सेठ खेमराजजीने छापकर अपने पत्रके उपहारमें दिया था और मिश्रजीने अपने परमानुरागी मित्र बा० फूलचन्दजी हलुवासियाको उसका समर्पण किया था। छोटे छोटे गल्प लिखनेमें भी मिश्रजीकी कल्पना कमाल थी। दयाका फल, मनकी चञ्चलता, लड़कीकी बहादुरी, विश्वासका फल, सत्यका फल, दयालु मिथिलेश, आदि इसके उदाहरण हैं। मिश्रजीकी बिखरी हुई पद्य-रचना यदि एकत्र की जाय तो हिन्दीमें एक सर्वोपयोगी सामयिक चीज तैयार हो जाय। धार्मिक राजनैतिक और सामाजिक सभी विषयोंपर उनके भाव-पूर्ण पद्य हैं।

तीर्थ-यात्रा।

मिश्रजीका हृदय हिन्दुत्वके भावोंसे भरपूर था। उनकी

शास्त्र-वचनोंमें आस्था और अतएव तीर्थ-दर्शनमें पूर्ण भक्ति थी। वह भक्ति करते थे अन्तःकरणके भावोंसे प्रेरित होकर। उन्होंने तीर्थ-यात्रा की थी, किन्तु अपनी भ्रमण-शीलता चरितार्थ करनेके लिये नहीं। स्व-कल्याण-साधनकी कामना ही उनकी तीर्थ-यात्रा-का उद्देश्य था। हिन्दुओंके चारों धामोंमें श्रीबदरीनारायणकी यात्रा मार्गकी विकटताके कारण बड़ी कठिन समझी जाती है। परन्तु मिश्रजी महाराज सं० १९५४ में श्रीबदरीनारायणजीके दर्शन भी कर आये थे। इसके अनन्तर सं० १९६३ में उन्होंने श्रीमातृचरणोंके साथ जगन्नाथपुरी, सेतुबन्धरामेश्वर और द्वारकाकी यात्रा की थी। उनकी वह यात्रा विशेष उल्लेखनीय हुई थी। उस यात्रामें श्रीयुक्त बा० बलदेवदासजी हलुवासिया, राय बहादुर विश्वेश्वरलालजी हलुवासिया, बा० हरिचरणजी हलुवासिया बा० गजानन्दजी हलुवासिया और वैद्य-पञ्चानन पं० भूरालालजी मिश्र आदिका सङ्ग होनेसे एक तीर्थ-यात्रियोंकी मण्डली बन गयी थी। यह समूह जहां जहां पहुँचा, वहां वहां सभा बुलायी गयी, उपदेश-पूर्ण व्याख्यान हुए और राय बहादुर बा० विश्वेश्वरलालजी हलुवासियाकी उदारतासे विद्वानोंके सत्कारका पुण्य भी अर्जन किया गया। प्रयाग, अयोध्या, काशी, मथुरा और वृन्दाबन तो मिश्रजीके एक प्रकारसे घर ही बने हुए थे।

मित्र-मण्डली ।

मिश्रजीके समान भ्रातृ-वत्सल भाई और प्रीति-शील मित्र संसारमें दुर्लभ हैं। जो एक वार उनसे मिल लेता था, वही उनका अनुगत मित्र बन जाता था। वास्तवमें वह "उदार चरितानान्तु वसुधैव कुटुम्बकम्"के उदाहरण थे। मिश्रजीके भिन्न भिन्न कार्य-क्षेत्रोंके मित्र भी भिन्न भिन्न थे। जिनमें उनके बाल-सखा थे प० शम्भूरामजी पुजारी, बा० फूलचन्दजी हलुवासिया और बा० ज्ञानीरामजी हलुवासिया। दुःखका विषय है कि बा० फूलचन्दजी और बा० ज्ञानीरामजी भी आज संसारमें नहीं हैं। मिश्रजीके धार्मिक क्षेत्रके मित्रोंकी ओर दृष्टि पसारी जाय तो सबसे पहले श्रीभारतधर्म-महामण्डलके संस्थापक व्याख्यान-वाचस्पति प० दीनदयालुजी शर्मा दिखायी देते हैं। यद्यपि मिश्रजीका आगे चलकर पण्डितजीसे सिद्धान्तोंमें मत-भेद हो गया था, किन्तु यह बात अस्वीकार नहीं की जा सकती कि मिश्रजीने पण्डित दीनदयालुजीकी अधिनायकतामें ही धर्मके कार्य-क्षेत्रमें प्रवेश किया था। इस क्षेत्रके अन्य मित्रों, सहायकों और साथियोंमें साहित्याचार्य प० अम्बिकादत्तजी व्यास (काशी), विद्या-वारिधि प० ज्वालाप्रसादजी मिश्र (मुरादाबाद), प० शङ्करदाजी शास्त्री पदे (बम्बई), प० रामचन्द्रजी वेदान्ती (दिल्ली), प० गणेशदत्तजी शास्त्री विद्या-निधि (कन्नौज),

प० गोविन्दरामजी शास्त्री (बरेली), प० नन्दकिशोरदेव शर्मा (अमृतसर), प० मुकुन्ददेव शर्मा (मथुरा), प० देवदत्तजी शर्मा (भिवानी), प० उमाशङ्करजी वेदपाठी (कलकत्ता), प० बनमाली-दत्तजी शास्त्री (अमृतसर), प० बालमुकुन्द जुकालियां (पंजाब), बा० वरदाकान्त लाहिड़ी (दीवान फरीद कोट), प० गोपीनाथजी (लाहौर), जोषी बाबा माधवलाल (मथुरा), ठाकुर साहब गोपालसिंहजी राठौर (खरवा) बा० तुलापतिसिंह (दर्भंगा), प० महाराजनारायण शिवपुरी (बनारस), प० दामोदर शास्त्री (मथुरा), प० श्रीकृष्णजी शास्त्री (पटियाला), प० कन्हैयालाल-जी गोपालाचार्य (कलकत्ता), प० भूरालालजी मिश्र (कलकत्ता) गोस्वामिवर्य श्रीदेवकीनन्दनाचार्यजी महाराज (बम्बई), श्रीस्वामी ज्ञानानन्दजी महाराज (बनारस) और धर्मरत्न सेठ खेमराजजी श्रीवेंकटेश्वर प्रेसाध्यक्ष प्रभृतिके नाम मुख्यतः उल्लेखनीय हैं। रायबहादुर बा० जालिमसिंहजी पोस्टमास्टर जनरल राज्य गवालियर और फैजाबादके वकील बा० बलदेव-प्रसादजी मिश्रजीके अनुरक्त भक्त थे। श्रीमान् दर्भंगानरेश महा-राज सर रमेश्वर सिंह बहादुर धर्म सम्बन्धी प्रायः सभी कार्यों-में मिश्रजीका परामर्श लिया करते थे। ब्रह्मपद-लीन स्वामी राम-तीर्थजी महाराजका आपसे प्रगाढ़ स्नेह था। उनके संन्यास ग्रहणके विषयमें मिश्रजीने 'युवा सन्यासी' शीर्षक एक बड़ी प्रभावोत्पादक कविताकी रचना की थी। वह कविता उनके

प्रख्यात मासिक पत्र सुदर्शनमें प्रकाशित हुई थी। इसके अतिरिक्त काशीकी विभूति परमपदारूढ़ श्रीस्वामी विशुद्धानन्दजी महाराजकी मिश्रजी पर विशेष अनुकम्पा थी। श्री शारदा-पीठके श्री जगद्गुरु श्री मच्छङ्कराचार्य श्रीमन्माधव तीर्थजी महाराज भी आप पर कृपा रखते थे। उधर मिश्रजीके साहित्य-सेवी मित्रोंमें जिनसे उनका विशेष स्नेह-सम्बन्ध था, स्वर्गीय प० बालकृष्णजी भट्ट, स्व० प० दुर्गाप्रसादजी मिश्र, प० गोविन्दनारायणजी मिश्र, बा० बालमुकुन्दजी गुप्त, प० चन्द्रधरजी शर्मा गुलेरी, बा० देवकी-नन्दजी खत्री, बा० राधाकृष्णदासजी, प० राधाचरणजी गोस्वामी, प० मधुसूदनजी गोस्वामी, प० अमृतलालजी चक्रवर्ती, प० लज्जा-रामजी मेहता; प० किशोरीलालजी गोस्वामी, स्वर्गीय बा० शिवचन्द्रजी भरतिया, प० द्वारकाप्रसादजी चतुर्वेदी, प० जग-न्नाथप्रसादजी शुक्ल, प० शिवबिहारीलालजी बाजपेयी, स्व० प० प्रभुदयालजी पाण्डेय, बा० हरिकृष्णजी जौहर, मिस्टर जैन वैद्य, स्व० मुन्शी समर्थदानजी, स्व० प० सखाराम गणेश देउस्कर, प० विष्णुदत्तजी शर्मा बी० ए० बा० मैथिलीशरणजी गुप्त, विद्यावाचस्पति प० अप्पाशास्त्री, और पण्डित सोमनाथजी झाड़खण्डी इत्यादिकी गणना की जा सकती है। उक्त सभी सज्जनोंसे मिश्रजीका गहरा अनुराग था। साहित्यिक विवादको लेकर प० महावीर प्रसादजी द्विवेदी और कविवर प० श्रीधरजी पाठकसे भी आपका पत्राचार खूब हुआ था। इसके अतिरिक्त

भिवानी-निवासी परमोत्साही भिषग्रत्न प० रामरूपजी पुजारी मिश्रजीके मन्त्री थे और प० काशीनाथजी उपाध्याय आज्ञानुवर्ती शिष्य। उपाध्यायजी यात्रामें भी प्रायः मिश्रजीके साथ ही रहते थे।

देहावसान।

सं० १९६४ के चैत्रमासकी चतुर्थीको केवल ३५ वर्षकी अवस्थामें मिश्रजीने अपनी इह-लीला संवरण की। भिवानीमें उस समय प्लेग फैला हुआ था। मिश्रजी तेईसवीं कांग्रेस और भारतधर्म महामण्डलके अधिवेशनोंको देखकर उस समय भिवानी गये हुए थे। जब प्लेगका जन-संहारकारी स्वरूप अधिक विकराल हुआ, तब आप अपने कुटुम्बको साथ ले कूंगड़ चले गये। कूंगड़ भिवानीसे १२ कोस है। वहां जाने पर चार दिन बाद ही मिश्रजी पर भयङ्कर ज्वरका आक्रमण हुआ। वह ज्वर ही सान्निपातिक रूप धारणकर उनके शरीरान्तका कारण बन गया। प्रलापमें भी मिश्रजी अपने देश और धर्मकी दीन दशाको न भूले। देशके उद्धारका स्मरणकर वह तब तक उष्ण श्वास छोड़ते रहे, जब तक कि उनके वे ओजपूर्ण नेत्र जो कभी किसीसे नहीं झपते थे, सदाके लिये बन्द न हो गये।

सन्तान।

प० माधवप्रसादजी अपने पीछे एक सहारा छोड़ गये थे,

जिसको देख कर समस्त परिवारने अपने दुःखके आवेशको रोक लिया था। "आत्मा वै जायते पुत्रः"के अनुसार पुत्र पिताकी आत्मा होता है। मिश्रजीके मित्रोंने भी उनके पुत्र शिवकुमार पर अपनी आशाओंको स्थापित किया। शिवकुमारकी अवस्था उस समय केवल १२ वर्षकी थी। मिश्रजीकी वृद्धा माता शिव-कुमारको देखकर जीने लगी। मिश्रजीकी वैधव्य-दुःख-दग्धा धर्मपत्नीने पुत्रकी ओर निहार कर चित्तको सान्त्वना दी। शिव-कुमार भी पिताका उपयुक्त पुत्र होनेके लक्षण प्रकट कर लोगोंको चकित करने लगा। मिश्रजीके कनिष्ट सहोदर प० राधाकृष्ण जीने अपने प्राण-प्रिय शिवकुमारको शिक्षित बनानेका पूरा प्रबन्ध कर दिया था। १६ वर्षकी अवस्थामें पटियाला राज्यके डाक्टर श्री पण्डित जयदयालुसिंहजीकी कन्यासे सन् १९११ में शिवकुमारका विवाह हुआ और उसके वर्ष भर बाद द्विरागमन। शिवकुमारकी द्रढ़ता-पूर्ण तेजस्विता एवं योग्यतामें प० माधव-प्रसादजीका प्रतिविम्ब दिखायी देने लगा। मिश्रजीके परिवारमें पुनः सुखका वायु बहने लगा। शिवकुमारको देखकर लोग पुराने दुःखको भूल गये। किन्तु यह सब कुटिल कालको सह्य न हुआ। चैत्र शुक्ला १४ सं १९७१ को शिवकुमार अपने कुटुम्बको अथाह शोक–सागरमें डुबा कर चल बसा! इस वज्रपातसे मिश्र-जीके परिवारकी सभी आशाओं पर पानी फिर गया। प० राधा-कृष्ण मिश्रजीकी आंखोंके सामने घोर अन्धकार छा गया!

स्मारक ।

प० माधवप्रसादजीका निधन-संवाद देशमें बिजलीकी भांति फैल गया था। देशने इस शोकाघातको बड़े खेद्के साथ सहन किया। उस दुःखदायक घटनाको आज १२ वर्ष बीत गये। उस समय मिश्रजीके साहित्य-सेवी मित्र, संवाद्-पत्रोंमें उनका गुण-कीर्तन कर शान्त हो गये। देशकी सनातन-धर्म-सभाएं अपने विशेष अधिवेशनोंमें शोक-सूचक प्रस्ताव पास कर चुप हो गयीं। लोकमान्य तिलक,माननीय मालवीयजी आदि देश-पूज्य नेताओंने मिश्रजीके शोक–संतप्त-परिवारके पास समवेदना-सूचक पत्र भेज कर अपना कर्तव्य पूरा कर दिया। इस प्रकार दो तीन मासके भीतर ही यह सब दुनियांदारीकी रस्में पूरी हो गयीं।

जिस भारतधर्म-महामण्डलके लिये मिश्रजीने अपने आपको उत्सर्ग कर दिया था; नहीं कहा जा सकता, उसने उनकी स्मारक-रक्षाके लिये कौन सा प्रयत्न किया? किन्तु यह सुना गया था कि जिस कलकत्तेके श्रीविशुद्धानन्द-सरस्वती-विद्यालयकी स्थापनामें मिश्रजीकी कलमने बड़ा भारी काम किया था, उसकी कमिटीने विद्यालय-भवनमें उनका एक तैल-चित्र रखना निश्चित किया है। धन कुवेर मारवाड़ी सज्जनों द्वारा संगठित विद्यालय कमिटी तो बारह वर्षमें भी अपने स्वीकृत प्रस्तावको कार्यमें परिणत न कर सकी, किन्तु मिश्रजीके कुछ साधारण स्थितिके

उत्साह-सम्पन्न प्रेमियोंने, जिनमें प० उमाशङ्करजी वेदपाठी और प० मुरलीधरजी शर्मा मुख्य थे, कलकत्तेके द्वार पर सलकियामें मिश्रजीके स्मारकमें श्री माधव मिश्र-संस्कृत-हिन्दी पाठशाला स्थापित कर दी। मिश्रजीके अनन्य प्रेमी बा० तुलारामजी गोए-नका बा० गुलाबरायजी पोद्दार एवं बा० रामचन्द्रजीके साथ साथ प्रायः सभी सलकिया—निवासियोंकी सहायता ही वेद-पाठीजीके लगाये हुए इस अङ्कुरको हरा-भरा रखनेमें समर्थ हुई। अङ्कुरसे ही पोधा होता है और पौधेसे महावृक्ष। मिश्रजीका उक्त स्मारकाङ्कुर भी अब पौधेसे महावृक्षका स्वरूप धारण करनेवाला है। उदार—हृदय बा० सूरजमलजी जालान, बा० तुलारामजी गोएनका, प० सोहनलालजी शर्मा एवं बा० ठाकुर-प्रसादजी सूरेका प्रभृति सज्जन मिश्रजीकी स्मारक-पाठशालाको महा-विद्यालय बना देनेको कृत-संकल्प हुए हैं। जालान और गोएनका महाशय एक लाख रुपये एकत्र कर इस शुभ सङ्कल्पको पूर्ण करनेका विचार रखते हैं। चन्दा आरम्भ होगया है। कितने ही विद्यानुरागी महानुभावोंने सहायताकी रकमें लिख दीं और भी लिखनेका क्रम जारी है। बारह वर्षके बाद मिश्रजीका उपयुक्त स्मारक बननेका सुसमय उपस्थित हुआ है। जो सज्जन इस उद्योगमें योग दे रहे हैं, वे पण्डित माधवप्रसादजी मिश्रके प्रति आदर दिखा कर वास्तवमें अपनी भावी सन्तानके सामने एक बड़ा उत्तम आदर्श खड़ा कर रहे हैं। इससे केवल मिश्रजीकी

स्मारक-रक्षा होगी, यही नहीं, प्रत्युत् उन लोगोंके नामोंको भी लोग सदैव कृतज्ञताके साथ स्मरण करते रहेंगे, जो इस शुभानुष्ठानमें भाग लेंगे।

उपसंहार

उपसंहारमें मैं इतना ही निवेदन करना चाहता हूं कि मिश्र-जीका नश्वर शरीर यद्यपि आज इस संसारमें नहीं है। तथापि वह जो देश और धर्मका काम कर गये हैं, उसक ि स्मृति चिरकाल तक बनी रहेगी। मिश्रजीका गद्य-पद्यात्मक साहित्य जब तक रहेगा, तब तक उनके नामको कोई भूल नहीं सकता। मिश्रजीका साहित्य उनकी विमल कीर्तिका द्योतक है और जिसकी कीर्ति है वह अमर है। क्योंकि—

"कीर्तिर्यस्य स जीवति"

कलकत्ता
शरत् पूर्णिमा
१९७९ वि०
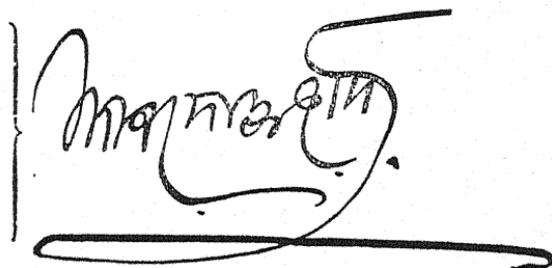
श्रीमान् रायबहादुर सेठ विश्वेश्वरलाल हलवासिया।

सहायकका परिचय।
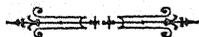
जबका हम प्रसङ्ग छेड़ते हैं, वह समय अनुमान साठ-सत्तर वर्ष पीछे जा चुका। अबका भारतवर्ष, तबके भारतवर्षसे बहुत दूर हट गया है। उस समयके पुरातन और शान्ति—सुखमय चित्रको इस समयकी नवीन भावनाओं और अशान्त प्राणोंसे पहचानना कठिन है।

कालचक्रका एक पहिया घूम गया था और उसके साथ ही प्रतापी सम्राट् विक्रमादित्यकी दुर्दैव-हता उन्नीसवीं सदी, छिन्न भिन्न और विपद्-संकुल भारतवर्षके घरू कलहोंसे व्याकुल हो, नवागत विलायती सौदागरोंके अनजांचे हाथोंमें, फूटके स्रोतमें बहते हुए भारतवर्षके भाग्यकी डोर देकर, ठंढे सांस ले चुकी थी। बीसवीं सदीने आतेही पुराने कृत्योंसे कम्पित नाममात्रकी मुगल-बादशाहीको धक्का देकर, बृटेनकी अधीश्वरी महारानी विक्टोरियाके कर्मचारि-मण्डलके अधिकारोंके नये भार समूचे भारतवर्षकी कुबड़ी कमरपर लाद दिये थे। ऐसे विप्लवके समय मदोद्धत पुराने अधिकारियोंके अधःपतनसे नवीन प्रभुओंने "मा कुरु धन-जन-यौवन-गर्वं, हरति निमेषात् कालः सर्वम्"—इस प्रबोधवाणीका अर्थ समझनेकी चेष्टा की या नहीं,सो तो सर्वदर्पा-पहारी भगवान् जानें, किन्तु भारतवर्ष इसका अर्थ समझनेसे पहले ही शस्त्र-सन्यासकी दीक्षा ले चुका था!

उस शस्त्र-सन्यास या विनाश; परिवर्तन या विप्लवके युगमें भी वीर-जननी शेखावाटी और हरियाना प्रान्त सौभाग्यशाली थे कि वे अपनी चतुस्सीमाके भीतर सुखकी सहनाई सुन रहे थे। उनके खेतोंके कष्टोपार्जित धान्य, सैनिक घुड़सवारोंके घोड़ोंके खुरोंसे कुचले नहीं जाते थे। बीसवीं सदीके आरम्भ कालमें तो धीरे धीरे सारे भारतवर्षकी सुख-शान्तिकी छायाके साथ इस प्रान्तमें वाणिज्य-व्यवसाय भी बढ़ने लगा।

आने जानेके मार्गोंको निर्विघ्न देखकर, राजपूतानाके वे धनिक पुरुष, जो पिछली सदीमें मुगल-राज्य-कालके प्रतिदिनके उपद्रवोंसे घबराकर हिन्दू-रियासतोंमें ही रहना, मङ्गल-जनक समझते थे—अब क्रमशः राजस्थानकी सीमासे बाहर पैर रखने लगे थे। यद्यपि बङ्गाल और बम्बईकी खाड़ीके तटों तक पहुंचनेमें उनके लिये कोई रुकावट नहीं रह गयी थी, किन्तु जीवनके उपयोगी सभी साधनोंके वहीं पर सुलभ होनेसे, उस समयके सभी पुरुष—क्या धनी और क्या निर्धन, तृष्णाके गुलाम बनकर हा! धन और हा! अन्न करते हुए रेलों और जहाजोंकी यातना सहकर सारी दुनियांका चक्कर लगानेके आदी नहीं हुए थे। उस समय उनके यहां घरमें ही सब कुछ था।

ग्रामोंमें सरल-हृदय स्वस्थ किसान, खेतोंमें प्रचुर तृण, भंडारोंमें अपरिमित अन्न, गोशालाओंमें हृष्ट पुष्ट गायें, उनके स्तनोंमें अमृत-समान दुग्ध, मुहल्लों और चौपाड़ोंमें अस्सी अस्सी वर्षके बूढ़े, घरोंमें सती स्त्रियें और आज्ञाकारी पुत्र, शरीरोंमें बल-परा-

क्रम, जीवनमें पूर्ण आयु और हृदयमें धर्मके जाग्रत भाव थे। पर आज ? आज हमारे अतीत जीवनके साक्षी सर्वदर्शी काल भगवान् हमसे पूछते हैं कि बीसवीं सदीके समृद्ध, सुसभ्य और गर्वोन्नत मोटर-मोहन मारवाड़ियो ! तुम्हारी जन्मभूमिकी वह सुर-वाञ्छित श्री किस क्रूर-कर्माने हरली ? हरियानेका असंख्येय गोवंश किस शैतानके पेटमें चला गया ? ?

इसका उत्तर ?—मूक-हृदयकी एक मर्म-स्पर्शी आहके सिवा इसका कोई उत्तर नहीं है।

जो हो, इसके अतिरिक्त जन्मभूमिका प्रेम भी उस समयके पुरुषोंको दूर देशोंमें जानेसे रोकता था। जिसकी पवित्रता और मानकी रक्षाके लिये उनके वीर पितरोंने हृदयका रक्त देकर सदियों तक विदेशी आक्रमणकारियोंके हमले सहन किये, हजार आवश्यकता होनेपर भी अपने जीवनकी लीलाक्षेत्र उस पितृभूमिके नगर और ग्रामोंको आजकलकी भांति चिरकालके लिये छोड़ना उन्हें असह्य था।

शायद इसी कारण उस समयके राजपूतानेके वर्द्धिष्णु धनाढ्य पुरुषोंने समीपवर्ती हरियानेके प्रसिद्ध नगर भिवानीके दूध-दही और जल-वायुसे आकृष्ट हो, उसीको अपने व्यवसायका मध्यकेन्द्र बनाया था। भिवानी नगर, जो इस समय पंजाबके जिले हिसारमें है, उस समय क्रमशः महाराष्ट्रों, सिक्खों और पटौधी, दूजाना तथा झज्झरके नवाबोंकी क्षणिक अधीनताओंसे निकल कर अंग्रेजी गवर्नमेण्टके रोहतक जिलेका अंग बना हुआ

था। उत्तरमें अमृतसर तक, पूर्वमें मिर्जापुर तथा दक्षिण और पश्चिममें समस्त राजस्थानसे उसके व्यापारका सम्बन्ध था। एशिया खण्डके पश्चिमतटके सैयद बन्दर पर जिस भांति योरप, अफ्रिका और एशिया इन सभी महाद्वीपोंके मनुष्योंकी अनोखी छटा दिखलाई पड़ती है, उसी भांति भिवानी भी उस समय राजपूतानाके सब प्रान्तोंके मनुष्योंकी प्रदर्शनी माना जाता था। हरियाना-शेखावाटीकी सभ्यताका तो वह केन्द्र ही बन गया था। आज भी उसके हालू और लोहड़ नामके दोनों विभागोंमें शेखावाटी और हरियानेकी सभ्यताएं इस तरह मिलती नजर आ रही हैं, जिस तरह कि उसके सदर स्थान हिसारमें एन० डब्ल्यु और बी० बी० एण्ड सी० आई रेलवे। जयपुर, जोधपुर, बीकानेर आदि रियासतोंका कोई विरला ही ऐसा शहर होगा, जिसका फार्म उस समय भिवानीमें न खुला हो, कलकत्ते बम्बईके विद्युत्-ज्वाला-प्रज्वलित और गगन-चुम्बी महलोंमें ललित-लीला परायण "बड़े बाबुओं"मेंसे बहुतेरोंके पिताने नहीं तो दादाने एक दिन भाग्य-कसौटी भिवानीमें कड़ुवे तैलके दीवेके पास बैठ कर अपनी रोकड़-बहीके जमा-खर्चके आंकड़े जोड़े थे। बहुतसे धन-कुवेर मारवाड़ियोंका भाग्यका जो ललाटन्तप सूर्य आज आकाशके मध्यमें तप रहा है, उसका उदय-गिरि परम्परा-सम्बन्धसे भिवानी ही है। किसी भी कारणसे क्यों न हो, जो लोग हरियाना-शेखवाटीके इस पुरातन और पवित्र सम्बन्धको भूलेंगे या अपमानित करेंगे, क्रोध-कठोर इतिहासके अनिवार्य शापसे वज्र-

पाणि इन्द्र भी उनको नहीं बचा सकेगा। "संगच्छध्वम्, सम्बदध्वम्।"

अस्तु। जब वर्षा ऋतुके सरोवरकी भांति, भिवानी नगर उक्त रीतिसे उन्नतिकी ओर अग्रसर हो रहा था, उस समय भारतवर्षमें यद्यपि उस विषादमय युगका अन्त हो गया था, जिसमें लुच्चों, गुण्डों, शौहदों, बदमाशों और आततायियों द्वारा हमारी सती स्त्रियोंपर, आराधनीय देव-प्रतिमाओंपर-पवित्र तीर्थोंपर, अभेद्य दुर्गोंपर, रत्न-पूर्ण कोशोंपर, आचारपर, विचारपर मानपर तथा ज्ञानपर सदियोंसे सदियों तक बराबर आक्रमण होते रहे। किन्तु विषादमय युगकी समाप्ति हो लेनेपर भी व्याधोंके जालसे निकल कर हाँपती हुई हरिणीके समान भय-विह्वल भारतवर्ष उस समय अपने भविष्यके लिये कुछ भी नहीं सोचने पाया था। भयंकर तूफानके बाद किसी वनस्थली या उद्यानकी जो दशा होती है, यह देश भी ठीक वैसी ही स्थितिमें पहुंच गया था, ऐसे समयमें उन महाप्राण पुरुषोंकी आवश्यकता होती है, जो चतुर मालीकी तरह बिगड़ी हुई दशाको सुधार सकें। करुणानिधि भगवान् की अपार कृपासे हरियाना-शेखावाटी प्रान्तको उस समय कुछेक ऐसे ही वाञ्छनीय पुरुष मिल गये थे। उनमें से चारके नाम लेखनीकी जिह्वापर सबसे पहले उपस्थित होते हैं :—

लाडवी (हिसार) के महाप्रतापी पण्डित मंगलदत्तजी, चिड़ावाके महामना पण्डित तुलसीरामजी, कूंगड (हांसी) के महा

विद्वान् साधु निश्चलदासजी और भिवानीके तेजस्वी पण्डित जयरामदासजी

पण्डित मंगलदत्तजी तथा पण्डित तुलसीरामजीके कार्यों की यदि नवद्वीपके महाप्रभु चैतन्यदेव और नित्यानन्दके कार्यों के साथ तुलना की जाय तो साथ ही यह भी मानना पड़ेगा कि साधु निश्चलदासजी और पण्डित जयरामदासजी इन प्रांतोंके वासुदेव सार्वभौम और रघुनन्दन भट्ट थे, साधु निश्चलदासजीने ही फिरसे इन प्रान्तोंमें हिन्दू दर्शनका प्रचार किया था। उन्होंने विचार-सागर और वृत्ति–प्रभाकर नामक अपने उपादेय दार्शनिक ग्रन्थोंमें जैसे अपूर्व पाण्डित्य, असाधारण विचार-बुद्धि और अनन्य साधारण विश्लेषण शक्तिका परिचय दिया है, उसे देख कर विस्मित होना पड़ता है। उन्होंने हिन्दी भाषामें इन दोनों पुस्तकोंकी रचना उस समय की थी, जब सुधरी हुई हिन्दीके जन्मदाता भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजीका उदय भी नहीं हुआ था और सत्यार्थप्रकाशके निर्माता स्वामी दयानन्दजी इस देशपर दया भी नहीं करने पाये थे। पण्डित जयरामदासजी चाहे रघुनन्दन भट्टकी तरह समाज-शासनके लिये कोई ग्रन्थ नहीं बना गये, परन्तु उनकी बाँधी हुई सामाजिक मर्यादा हरियानेमें आजतक अचल हैं। उनके तेज, प्रभाव और त्यागकी बातें हरियानेके ग्राम अभीतक भूले नहीं हैं। हरियानेमें उनके द्वारा पुराणोंका प्रचार और वैष्णवताका संचार हुआ। पण्डित मंगलदत्तजी और पण्डित तुलसीरामजीने ही अज्ञान-मूर्छित शेखावाटी प्रान्तको

उस समय जगाया। उन्होंने ही वैदिक-संस्कार-हीन और व्रा-
त्यता-बधिर मरुदेशीय लोगोंके सठियाये हुए कानोंमें वेदवाणीके
मधुर स्वर पहुँचाये। समाजके सब प्रकारके लोगोंमें सद्धर्म
शिक्षाको फैलानेके लिये, क्या नागरिक और क्या ग्रामीण, सबको
थोड़े बहुत धर्मके सिद्धान्त समझानेके लिये उक्त दोनों महापुरुषोंने
शेखावाटी आदि प्रान्तोंमें बारबार भ्रमण किये। उनका त्याग
बौद्ध सम्राट् अशोकके समयके बौद्ध साधुओं जैसा था, पर उप-
देश-शैली थी शंकर-सम्प्रदायके सन्यासियों जैसी। उपदेश-
यात्राओंमें जहां वे सैकड़ों छात्रोंके साथ ठहरते थे, वहां उस
समय यही प्रतीत होता था कि मानो प्राचीन युगके कोई कुलपति
महर्षि अपने आश्रमको यहां ले आये हैं।

उक्त महा पुरुषोंकी चतुर्व्यूह मूर्ति हम लोगोंको उच्च भावों-
का जो महादान दे गयी है, उसको स्पष्ट करनेके लिये आज यहां
स्थान नहीं है। उन्होंने अच्छा किया या बुरा किया, यह भी
आगामी सन्तान विचार करेगी। किन्तु जो कुछ भी वे कर गये,
उसमें उनकी प्रतिभाका संचय है और समाज-संचालनका परि-
चय है। ब्राह्मणके उच्च आदर्शका विकाश है और उनके महात्याग
और परोपकार-परायणताका प्रकाश है। ये लोग ऐसे मौनयुगमें
हुए जब कि प्रसिद्धिके लटके ऐसोसियेटेड प्रेस तथा समाचार-
पत्रोंकी सृष्टि नहीं हुई थी। इसीलिये कुलांगनाओंके सौन्दर्य्यकी
तरह उनकी कीर्तिकी चर्चा हरियाना-शेखावाटीकी प्राचीरोंके
भीतर ही रह गयी और यदि सस्ती प्रसिद्धिके वर्तमान युगमें भी

वे होते तो क्या यह सम्भव था कि आजकलके ढकोसलेबाज 'महात्माओं' की तरह वे ढोंगकी ढोलकी गलेमें लटकाकर उस पर अपनी कोरी बड़ाईकी तान अपने ही हाथों लगाते ? जो हो, वर्तमान समयका इतिहास-विमुख मारवाड़ी समाज चाहे इन्हें भूल गाया हो, किन्तु विद्या और बुद्धिमें, चरित्रमें और मानसिक बलमें, त्यागमें और लोक-हितमें, अपने समयके वे मारवाड़ी जातिमें प्रधान पुरुष हो गये हैं। मारवाड़ी समुदायमें जो सारे देशभरसे विलक्षण मृदुता और मधुरता, आस्तिकता और दान-वीरता दृष्टि-गोचर हो रही है, इस नूतन युगका आरम्भ उन्हींके हाथों हुआ था। जबतक मारवाड़ी जातिमें इन उत्तम गुणोंका युग बना रहेगा, तबतक इतिहासकी आलोचनाके समय हमारी भविष्य सन्तान, इनके नाम और कीर्तिको नहीं भूल सकेगी। भूलनेसे अकृतज्ञताकी कलुषित नदी उन्हें डुबा मारेगी। भगवान् ऐसा न करें।

उक्त पण्डित-मण्डलीके उपदेशोंसे हरियाना-शेखावाटीके चार वैश्य-परिवार विशेष रूपसे प्रभावान्वित हुए थे। रामगढ़का पोद्दार-परिवार, लक्ष्मणगढ़के गनेड़ीवाले, भिवानीका रूपरामवंश और हलवासियाकुल। जिसका फल यह निकला कि पोद्दार-परिवारके पुंगवपुरुष सेठ गुरुसहायमलजी अपने पुण्यके बलसे मारवाड़ी-समाजके समाज-पति (सरपंच) बनाये गये, लक्ष्मणगढ़के गनेड़ीवालोंने उस समयके प्रधान 'दिशावर' हैदरा-बादमें केवल वाणिज्यके ही नहीं, किन्तु अपनी धार्मिकताके भी

अभिमानास्पद झण्डे मूसा नदीके मुसलमान-बहुल तटपर आरोपित किये थे। रूपरामवंशके अवतंस और पर दुःख-कातर लाला नन्दरामजी भिवानीके बिना ताजके राजा कहलाये। हलवासिया-कुलके सम्बन्धमें विशेष चर्चा करनी है।

हलवासिया-वंशके चन्द्रमाकी पहली स्पृहणीय कला लाला यमुनादासजी जब उदीयमान थे, उस समय हरियानेमें—विशेष कर उसके केन्द्र नगर भिवानीमें, पण्डित जयरामदासजीके पाण्डित्यकी धाक पड़ी हुई थी। वे कुरुक्षेत्रसे गम्भीर शास्त्र-ज्ञान, दक्षिण-हैदराबादसे सम्मान और श्रीवैष्णवधर्मका सन्देश तथा भगवान्के दरबारसे ब्राह्मणोचित त्याग और तेजस्विता लेकर भिवानी पहुंचे थे। वे पुराण–शास्त्रके मधुर और सार्वभौम धर्मके प्रचारके लिये बड़े सचेष्ट थे। इसकी सिद्धिके लिये वे सौ विद्वान् ब्राह्मणोंको श्रीमद्भागवतका अध्यापन करानेको संकल्प कर चुके थे और लाला नन्दरामजीके पुत्रों द्वारा अष्टादशपुराण तथा धर्मशास्त्रोंका संग्रह करा रहे थे, ऐसे मनोहर समयमें जिज्ञासु लाला यमुनादासजी सदुपदेशकी प्राप्तिके लिये उनकी सेवामें उपस्थित हुए। इस शुभ-मिलनका यह सुन्दर परिणाम निकला कि वैष्णवधर्मके अमोघ बीज लाला यमुनादासजीके हृदयक्षेत्रमें बोये गये।

उक्त पण्डितजीकी आज्ञा पा वे श्रीवैष्णवधर्ममें दीक्षित हुए और वृन्दावन-श्रीरंग-मन्दिरके आचार्य श्रीरंगदेशिक स्वामीसे उनका सम्बन्ध स्थापित हुआ। अपने समयमें वे पहले वैश्य थे

जो संस्कृत भाषाके अच्छे ज्ञाता होनेके साथ श्रीमद्भागवत, रामायण आदि सद् ग्रन्थोंका बहुतसा पाठ कण्ठसे कर लिया करते थे। हरियानेमें श्रीवैष्णव धर्मके वे मेरुदण्ड थे। उनके लिये केवल इतना कह देना पर्य्याप्त नहीं होगा कि उन्होंने स्थानीय श्रीरंग-मन्दिरका वैभव बढ़ाया, भूतपुरी और श्रीरंगक्षेत्रमें निजके भवन बनाये, उनमें क्षेत्र लगाये एवम् प्रत्येक अतिथि श्रीवैष्णवको वे आमान्न और एक रुपया बिदाईमें दिया करते थे। किन्तु यह कह देना उचित होगा कि उनका ध्यान, उनका ज्ञान, उनका अभिमान और उनके प्राण—किम्बहुना उनका जो कुछ भी था—वह सब केवल वैष्णवधर्मके लिये था। पश्चिमी ढंगके साम्यवादकी शुष्क शंख-ध्वनिके होहल्लेमें जिन्हें वैष्णवधर्मके मधुर स्वर अरुचिकर प्रतीत होते हैं, ऐसे ढुलमुल-यकीन पुरुष चाहे प्राचीन समयके चट्टर धार्मिक पुरुषोंको वक्र दृष्टिसे देखें, किन्तु लाला यमुनादासजी जैसे पुरुषोंकी जीवन कथाएं—हम लोगोंके एक युगकी इतिहास-कथाएं कही जा सकती हैं। अंग्रेजी शिक्षा और सभ्यताके थप्पड़ोंकी मारसे हमारी जिन्दगीके चेहरे पर कहां कहां भले बुरे दाग पड़ गये हैं—यह सब अच्छी तरह जाननेके लिये हमें पुराकालके कट्टर धार्मिक पुरखाओंके जीवनकी गाथाओंके दर्पणका सहारा लेना चाहिये। इस बातकी आवश्यकता भी आ पड़ी है। क्योंकि, हमारी जातिमें अब नूतन सृष्टिका युग आनेवाला है। इस युगके जो लोग हमारे प्राचीन आदर्शों पर खड्ग हस्त हों, वे प्रहारसे पहले यह सोचें कि इनका निर्माण क्यों हुआ था।

एक और बात है। उस समयके पुरुषोंका धार्मिक जीवन, जिन गुणोंसे संगठित होता था, अब उन सब गुणोंका अत्यन्ताभाव होता जा रहा है। अपने धर्मकी तरफदारीके लिये वह निर्भीकता, वह तेजस्विता, वह त्याग, वह तत्मयता, वह खरापन और वह स्वाधीनता अब कहां? जिन गुणोंके प्रभावसे उनका जीवन प्रदीप्त था, उन सब गुणोंकी पुट दिये बिना इस समयके शिथिल समाजमें, वह द्रढ़ता, वह तेजी आ नहीं सकती। इसलिये प्राचीन पुरुषोंके चरित्रको समझनेकी चेष्टा करनी चाहिये। समझ लेनेसे, वह तेज, वह करारापन और अपने धर्मके लिये सर्वस्व-त्यागके वे भाव, फिर हममें जाग सकते हैं। इस समयका धर्म-हीन और शिथिल समाज चाहे उन्हें भूल सकता है। विलासके मोहसे, पराई सभ्यताकेकुसंगसे, वह चाहे उनकी धर्म-प्राणताकी महिमाको नहीं समझ सकता हो, किन्तु नास्तिकताकी ऐसी घटाटोपमयी अंधेरी रात्रियां आयंगी, जिनमें वैसे धार्मिक चन्द्रमाओंके बिना एक समय रुदन करना पड़ेगा। वैसे रुदनकी ध्वनि जल्दीसे सुनाई पड़े—इसी दुराशाने प्रसंगसे इतनी बात कहा दी है। प्रकृत मनुसरामः।

उक्त लाला यमुनादासजीके पांच प्राणोंकी तरह पांच पुत्र हुए। सबसे कनिष्ट दो पुत्र—लाला परमेश्वरीदास और नारायणदासका जीवन उन पुष्पों जैसा हुआ, जो खिलनेसे पहले ही मुरझा जाते हैं।

तीसरे पुत्र लाला द्वारकादासजी भी—कानपुरके व्यवसाय-

क्षेत्रमें नाम बड़ा पा लेनेपर भी, उम्र बड़ी नहीं पा सके। उनके विनयशील पुत्र श्रीयुत गजानन कलकत्तेमें बोरेके व्यवसायी हैं।

चौथे पुत्र लाला बलदेवदासजी आजकल कलकत्तेमें व्यापार करते हैं। बड़े मिलनसार, स्पष्ट-भाषी और धार्मिक पुरुष हैं।

पांचवें पुत्र लाला जानकीदासजी थे। वे सब भाइयोंमें केवल अवस्थासे ही नहीं—गुणोंसे भी ज्येष्ठ थे। बड़े उदार और धीर पुरुष थे। उनके स्थिर-प्रकाश नेत्र कितनी ही बार सजल तो हुए, किन्तु किसी रोग या शोकसे नहीं—केवल पर-दुःख-कातर से। वे पराये कष्टोंमें पड़ते थे, पर किसी लौकिक स्वार्थके लिये नहीं—केवल नर-रूपी नारायणकी पूजाके लिये। उनके दानकी सूची अखबारोंमें न छपकर विपद्-ग्रस्तोंके उपकार-शीतल हृदयों पर अंकित हुई। वे पर्वतारोहीकी तरह सदा ऊपर-की ओर दृष्टि रखते थे। अपने व्यापार-सम्बन्धी बड़े विचारोंके साथ, जब वे निजाम साहबसे मिलने हैदराबाद पहुंचे, तब कुटिल कालने भी वहींपर पहुंचकर, चालीस वर्षकी अवस्थामें ही उन्हें कीर्तिशेष कर दिया। उनकी आत्माकी वे उच्च आकांक्षाएं और महत् मनोरथ जो उस समय हैदराबादकी मूसानदीके तटकी वायुमें विलीन हो गये थे, आज उनकी पुत्र-नामक दूसरी आत्माके द्वारा गंगा-तटकी वायुमें पूर्ण हो रहे हैं। उनके समयके वे पुरुष, जो अबतक जीवित हों, देखें कि "पुत्रेण जयते लोकान्" यह वाक्य सच्चा है या नहीं?

इन्हीं लाला जानकीदासजीके ज्येष्ठ पुत्र रायबहादुर लाला

विश्वेश्वरलालजी हलुवासिया हैं, जिनका चित्र इन परिचयात्मक पंक्तियोंसे पूर्व दिया गया है। पिताके वैकुण्ठवासके बाद इनकी अवस्था चौदह वर्षकी थी, जब कि ये कलकत्ते पहुंचे। इनके अनुज श्रीयुत मोतीलाल तो सिर्फ पांच ही महीनोंके थे। इनकी हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजीकी व्यवहारोपयुक्त शिक्षा भिवानीमें घरपर ही हो चुकी थी। कलकत्ते पहुंचकर अल्पकाल हीमें इन्होंने बाजारोंमें अपना प्रभाव जमा लिया। इस समय ये मारवाड़ी समाजके उन उन्नतिशील नेताओंमेंसे एक हैं, जिन्होंने स्वयम् अपने भाग्यका निर्माण किया है। आप जूट, चीनी, कपड़ा, नमक, आदिका व्यवसाय करते हैं और धानकल, तैलकल, वेंकटेश्वर हाइड्रालिक प्रेस, दोखिन्दरी केनेल बेंक तथा वेङ्कटेश्वर काटन मिल अमृतसरके अध्यक्ष हैं।

आप कलकत्तेकी प्रायः सभी मारवाड़ी संस्थाओंके पोषक हैं। मारवाड़ी स्पोर्टिङ्ग क्लब, सनातन धर्म्मावलम्बिनी अग्रवाल सभा और कलकत्तेके मारवाड़ी समाजकी प्रधान सभा मारवाड़ी एसोसियेशनके प्रेसीडेंट रह चुके हैं। कलकत्तेका हिन्दूक्लब, जिसका कि बड़े बाजारकी दूषित वायुने बचपनमें ही प्राणान्त कर दिया, इनके हाथोंसे खुला था और मरकर भी अमर होनेवाले "कलकत्ता-समाचार" का प्रथम अङ्क आपके ही हाथसे निकला था।

आपने हवड़ेमें अनाथोंके लिये अपने पिताके नामपर "जानकी दास हास्पिटल" नामका एक खैराती अस्पताल खोल रखा है।

भिवानीमें हलुवासिया औषधालय और दुवराजपुरमें डाकृरखाना सद्वैद्य और योग्य डाकृरोंकी रेखदेखमें आपकी ओरसे चलते हैं। कलकत्तेमें श्रीगङ्गाके तटपर अच्छी लागतसे एक श्राद्ध-घाट आपने बनवा दिया है और सलकियामें एक जनाना घाट बनवाने वाले हैं। इसके अतिरिक्त भुवनेश्वर साक्षी गोपाल, जगन्नाथपुरी और श्रीवृन्दावनमें एक एक धर्मशाला बन रही है। आरम्भकी दोनों धर्मशालाएं तो तैयारही हो गयी हैं।

चतुर गवर्नमेण्ट भी आप पर प्रसन्न है। प्रसन्नताके ये चिन्ह हैं—राय बहादुरकी पदवीसे आप अलंकृत हैं, हवड़ाके जनरल हास्पिटल तथा गोबराके कोढ़ी अस्पतालकी कमेटियोंके सदस्य हैं। देहली दरबारपर तथा एक अन्य अवसरपर वायसरायसे पदक मिले हैं, एवम् आप अनुज समेत हवड़ाके आनरेरी मजि-स्ट्रेट हैं।

यह सच है कि किसी संस्थाको अपने कोमल कर कमलों-से खोल देना या उसका प्रेसीडेंट बन बैठना—इस धन-पूजाके युगमें किसी धनिकके लिये कठिन बात नहीं है। और धर्मशाला, औषधालय तथा घाटोंको बनाकर खड़े कर देना भी मारवाड़ी चरित्रमें कोई नया समाचार नहीं। रही सरकारके कृपा-कटाक्षों-की कथा सो भारतवर्षसे वे दिन चले गये जब सिर्फ गवर्नमेण्ट-की गोदमें बैठ लेनेसे कोई गौरव-भाजन माना जाता था। किन्तु इनके चरित्रमें कुछ और भी असाधारणताएं हैं, जिन्हे साधार-णतासे यों कह सकते हैं:—

आप कोटीपति होनेपर भी आँडम्बर-शून्य हैं, "पुष्प-करण्ड" उद्यानों और "प्रवाहणक" मोटरोंके मालिक होनेपर भी सच्चरित्र हैं; "बड़े बाबू" होने पर भी बड़े बाजारके 'गुरुघण्टाल' खिलाड़ीके कुटिलनीतिमय तारोंपर नाचनेवाली कठपुतली नहीं है। मारवाड़ी हैं पर भीरु नहीं हैं, राज-वल्लभ रायबहादुर हैं, पर तिलक-पूजा-पराङ्मुख नहीं हैं। परम श्रीवैष्णव हैं पर शिवार्चन-द्वेषी नहीं हैं।

मारवाड़ियोंकी शोचनीय भोरुतासे लाभ उठानेवाले कलकत्तेके मछुवाबाजारी मुसलमान गुण्डोंके उपद्रवके समय आपने एक सैनिक पुरुषकी तरह डटकर भय-पूर्ण स्थानोंसे कितने ही मारवाड़ी परिवारोंका उद्धार किया था। कुछ मारवाड़ी नवयुवकोंकी निष्कारण नजरबन्दीके समय जब स्वराज्यवादी "स्वामीजी"के सत्यार्थप्रकाशकी नित्य कथा सुननेवाले "सरपञ्चों" ने भी नजरबन्दोंके शरणार्थी बन्धुओंके लिये अपने दरवाजे बन्द कर "यःपलायति सजीवति" का मन्त्र पाठ आरम्भ कर दिया था, तब अंधेरी रात्रिके ध्रुव नक्षत्रकी तरह ये ही एक पथ-प्रदर्शक रह गये थे, जिन्होंने दलन्दा हाउसमें विपन्न नवयुवकोंसे मिलकर गुस्सेल अफसरोंको वस्तु-स्थिति समझानेकी चेष्टाकी थी। दया-दरिद्र राजपुरुषोंने इनके परामर्शसे लाभ नहीं उठाया, यह उनके अविवेक-पूर्ण हठ और दुराग्रहकी बलिहारी है। इससे यही कहना पड़ता है, कि न तो ये वैसे चतुर-चूड़ामणि रायबहादुर हैं जो किसी विज्ञानशाला या तृष्णा-ताड़ित सामयिक पुरोहित कुछ

हिन्दी-पत्र सम्पादकोंको भीखकी टोकरीमें दो चार टुकड़े डाल कर या किरायेदार उपदेशक नामधारी भाटोंसे अपनी जरा जरा सी बातोंके तासे पिटवाते हैं। और न ऐसे दब्बू रायबहादुर ही हैं जो तिलकके नामसे इतना डरते हैं कि जितना श्रीकृष्ण नामसे कंस। यही कारण है कि गत कलकत्ता कांग्रेसके समय, भारतके तिलक स्वराज्य महामन्त्रके प्रदाता परमाचार्य, वेद-वेदान्त-वेत्ता श्रोत्रिय अतिथि और "करुणावतारम् संसार-सारम्" लोकमान्य बाल गङ्गाधरकी कर्पूर आरती करते समय समयके धनी धोरियोंकी भ्रुकुटिके भयसे इन तुलापट्टीके तुला-धारके हाथ कम्पित नहीं हुए। यद्यपि हवा बदलेगी पर इस समय जब कि राजनीति-चर्चाके नामसे कलकत्तेके मारवाड़ी रायबहादुरोंमें छप्पनका कहत पड़ रहा है, तब इतनीसी बातभी चर्चाका कुछ हक रखती है।

इनकी तर्फसे जब कलकत्तेके श्रीगंगा-तीर पर श्राद्ध-घाट बन कर तैयार हो गया, तब यह प्रश्न उठा कि इसका उद्घाटन उत्सव किसके द्वारा कराया जाय। प्रश्न क्यों उठा, इसका एक हेतु है। पहले समयके परमार्थी हिन्दू, धर्मस्थानोंको केवल नर और नारायणकी प्रीतिके लिये बनवाते थे। इसीलिये मुगलोंके प्रचण्ड प्रतापके दिनोंमें भी उन्होंने धर्म-स्थानोंके मुहूर्त किसी बादशाह या उसके वायसराय नबाबके द्वारा नहीं कराये, पर गुलामीकी बहुत पुरानी बीमारीसे हमारी जातिके जीवनमें जो कमजोरी आयी थी, अब उसका यह फल मिल रहा है कि

मन्दिर, घाट, धर्मशाला और औषधालयोंका बनाना तबतक सफल नहीं समझा जाता, जबतक कि "ढलती फिरती छाया" के साथी भिन्न धर्मी राज-पुरुषोंकी पधारावनी वहां नहीं हो लेती। अभी वह समय दूर है, कि हमारे देशके राजा-बाबू लोग ग्राम्य वधुओंकी तरह सरकारी तगमोंकी 'हमेल' गलेमें लटका कर इतराना छोड़ दें। जहां "मान्यो महान् मदन मोहन मालवीयः" के हाथों मेकडोनल-हिन्दू बोर्डिङ्ग हाउस और मिण्टो पार्ककी स्थापना हो चुकी, जहां, उस दिन जालन्धरके लाला मुन्शीरामजी और क्रमशः वकील, सम्पादक, जिज्ञासु, महात्मा, और गवर्नर की भूमिकाओंको छोड़ कर, अब स्वामी श्रद्धानन्दजीकी सीमा तक पहुंच जानेवाले, गुरुकुलके साहसी सूत्रधारने अपने आश्रा-ममें लार्ड चेम्सफोर्ड जैसे वायसरायकी मधुपर्क-पूजा करके ऋषियोंकी पवित्र भाषामें "अद्यमे सफलं जन्म" कह दिया, उस देशके उपाधि लोलुप सेठ साहूकार भी यदि भेड़ोंकी तरह एक ही अंधकूपमें गिर पड़ें तो कौन आश्चर्यकी बात है? ऐसे सम-यमें अनगिनत थैलियोंके अधिपति ये रायबहादुर भी यदि किसी सर माइकेल ओडायर या लार्ड चेम्सफोर्ड जैसे दयावता-रसे अपने नव-निर्मित घाटके पट खुलवा लेते तो कोई अनहोनी बात नहीं थी। किन्तु इनके पूर्व पुण्यने उक्त घाटको श्रीसम्प्र-दायकी चिरपूजित कांचीकी गद्दीके अधीश्वर महामति पण्डित श्रीअनन्ताचार्यजीके ही भगवत्सेवा-पावन हाथोंसे पवित्र कराया।

इन्होंने दक्षिण यात्राके समय श्रीरामेश्वरजीकी पूजामें जो उदारता दिखलाई और इनके यहां नर्मदेश्वरकी जिस श्रद्धा-भक्तिके साथ नित्य पूजा होती है, उससे उन ध्वजा-पालकी-धारी दिग्गज वैष्णवोंको अपने हृदयकी संकीर्णता धो डालनी चाहिये, जो काशीपुरीमें पहुंच कर भी विश्वनाथकी पूजासे पराङ्मुख रहते हैं और जो बदरिकाश्रम जानेपर भी केदार-नाथजीके दर्शनोंमें महापाप समझते हैं। वास्तवमें इनकी उदारताका ही यह फल था कि कलकत्तेमें श्रीवैष्णवसम्मेलन अपूर्व समारोहसे हो गया। श्रीरामानुजस्वामीके आविर्भावसे आज तककी श्रीवैष्णवताके इतिहासमें वह पहला स्मरणीय अवसर था, जिसमें घोर शाक्त बंगभूमिकी विबुधमण्डलीके द्वारा एक श्रीवैष्णवाचार्यका इस प्रकार स्वागत हुआ, नहीं तो काशी धामकी अवाञ्छनीय घटना सबको याद है।

इन्होंने भारतीय दर्शन-शास्त्रके लेखक स्वर्गीय मिश्रजीके साथ उनके लोकान्तर-गमनसे कुछ ही पहले एक हिन्दी-दैनिक समा-चारपत्र और उनकी ग्रन्थावलीके प्रकाशनके विचार बांधे थे। पहला तो नहीं, पर इतने दिनोंके बाद आज पिछला विचार एकांशमें सफल हुआ चाहता है। इससे पहले बंगभाषासे श्री-रामानुजाचार्यकी जीवनीका अनुवाद करा, उसके दो संस्करणोंको ये बिना मूल्य वितरण करते आये हैं। अब इनकी सहायतासे यह "भारतीय दर्शन-शास्त्र" प्रकाशित होना आरम्भ हुआ है। इसके एवजमें अन्तरात्माके प्रेरक दयामय प्रभुसे हमारी प्रार्थना

है कि यदि उन्होंने संसारके कुछ मनुष्योंको प्रसन्न होकर भौतिक सम्पत्तिके अधिपति बनाये हैं, तो वह उन्हें हृदयके उच्चभावमय सात्विक धनके भी अधिपति बना दें। ताकि वे चित्तौड़के भग्न दुर्गसे, मुगल-सम्राटोंके अंग्रेजाधिकृत किलोंसे और वाजिद अलिशाह तथा "जगत् सेठोंके" के शून्य भवनोंसे कमलाके चंचलापनको जानकर माता सरस्वतीके व्यास, वाल्मीकि आदि-सेवित सदनमें अर्घ्य लेकर उपस्थित हों।—

सदा न काहूकी रही, प्रीतमके गल बांह।
ढलती ढलती ढल गयी, सब तरु-वन की छांह।

—प्रकाशक।

विषय-सूची।

सम्पादककी प्रस्तावना

विषय

पृष्ठांक

=

विषय पृ.

भारतीय दर्शन-शास्त्रकी उपक्रमणिकाकी अनुक्रमणिका

विषय	पृष्ठांक

* श्रीहरिः *

प्रस्तावना

(१) वर्तमान समयका विचार-स्वातन्त्र्य ।

इस समय विचार-स्वातन्त्र्यकी बड़ी धूम है। वर्तमान समयके मनुष्योंकी बुद्धिमें यह विशेषता जम गयी है कि किसी भी बातको अपने आप निश्चय करना, जहां तक बन सके, परम्परागत सिद्धान्तोंकी यथार्थताको शास्त्रीय और तात्त्विक रीतिसे परीक्षा करना और उसमेंसे केवल न्याय-सिद्ध प्रमाणोंकी कसौटी पर खरी उतरी हुई बातको ही स्वीकार करना। सामाजिक राजनैतिक किम्वा धार्मिक आदि जितने माननीय विषय हैं, उनमेंसे स्वतन्त्र विचारके द्वारा परीक्षा किये बिना किसीको स्वीकार करलेना, आजकल मनुष्यकी विचार-शक्तिका अपमान समझा जाता है। सारांश यह है कि वर्तमान शिष्ट-समुदायमें जो कुछ भी अभिमानका विषय है, वह विचार-स्वातन्त्र्य ही है। केवल इतना ही नहीं, किन्तु विचार-स्वातन्त्र्यके अभिमानियोंकी उसके प्रति इतनी अधिक पूज्य बुद्धि बढ़ती जारही है कि उसके लिये वे अपने सर्वस्वको समर्पण करनेमें भी आनाकानी नहीं करते

हैं। समाज निन्दा करे, चाहे राज-सत्ता दबावे, किंवा दोनों ही शक्तियां चाहे जितनी कठिनाइयां उपस्थित करें, किन्तु जो सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक बन्धन, विचार-स्वातन्त्र्यके सिद्धान्तोंके प्रतिकूल दिखाई पड़ें, उनके विनाश करनेके लिये धर्म-युद्ध करनेमें भी विचार-स्वातन्त्र्यके उपासक अपना गौरव मानते हैं। मनुष्य-बुद्धियोंके बदलते हुए स्वरूपकी सूक्ष्मताकी तर्फ देखने पर यह बात किसीसे छिपी नहीं रह सकती। जो लोग तात्त्विक रीतिसे किसी भी विषयके कार्य—कारण—सम्बन्धको ढूंढ सकते हैं, वे इस विचार-स्वातन्त्र्यके कारणको भी सहज ही में जान सकते हैं।

(२) इस विचार-स्वातन्त्र्यके कारण।

आजकलके विचार-स्वातन्त्र्यके स्वरूपका आविर्भाव युरोपमें गत शताब्दीके आरम्भसे हुआ है, यद्यपि उसके कारणोंकी उत्पत्ति वहां गत चार शताब्दियोंसे होती आ रही है। ठण्डे देशोंमें जीवनके निर्वाहके लिये अधिक साधनोंकी अपेक्षा होती है और साथ ही वे कष्ट-साध्य भी होते हैं। युरोपमें मनुष्योंकी संख्या जैसे जैसे बढ़ती जा रही है, वैसे वैसे हो जीवनके साधन भी दिनों दिन कष्ट-साध्य होते जा रहे हैं, ऐसे समयमें जीवनके निर्वाहके लिये मनुष्योंमें प्रयत्न—शीलताका बढ़ना उचित है। प्रयत्नका उपयोग, मनुष्यकी वृत्तियोंको चञ्चल करता है। सुखको सब चाहते हैं, यद्यपि वृत्ति-चञ्चलता सुखकी विरोधी है, किन्तु वृत्तिके क्षोभकी शान्तिसे सुखकी प्रतीति होती है और साथ ही

ी नूतनताकी प्राप्तिसे एक प्रकारका संतोष मिलता है। इस लिये नूतनताकी प्राप्ति और उसके लिये चेष्टा करना आजकलके मनुष्योंकी प्रवृत्तिका एक मुख्य विषय हो गया है। इसी बातको दूसरे शब्दोंमें यों भी कह सकते हैं, कि स्वाभाविक सृष्टिमेंसे नये नये पदार्थोंको ढूंढ कर उनसे भिन्न भिन्न रचनाओंकी व्यवस्थाका जोगाड़ बांधकर उसको अपूर्व रूपमें लेआना उस प्रकारके मनुष्योंका कर्तव्य हो गया है। जैसे जैसे नूतनताका आनन्द लेनेमें उनकी वृत्तियां बढ़ती जा रही हैं, वैसे वैसे ही नूतनताके आविर्भावकी कलामें भी वे लोग अधिक अधिक प्रवीण होते जा रहे हैं। उनकी इस प्रवीणताका यह परिणाम निकला है कि वे जिन पदार्थोंकी नूतनताको खोजते हैं, उनमेंसे एकसे दूसरेको सम्पूर्ण रीतिसे यथा सम्भव पृथक् करते हैं और पृथक् किये हुए तत्वोंका हेतु पार पड़ सके; इस प्रकारका योग करके उनकी ओरसे अपनी खोज को उत्कर्ष दिया जाता है। इस प्रकारकी खोज और प्रवृत्तिका यह स्वभाव है कि वह पुरातनताकी प्रीतिको हिला देती है, इसी लिये इस प्रकारके मनुष्योंके मनोंमें पुरातनता पर अश्रद्धा और नवीनता पर अनुराग बढ़ता जा रहा है। इसके अतिरिक्त छापाखानेके विस्तारसे वर्तमान समयका साक्षर-समुदाय दूसरोंके निश्चय और वचनों पर श्रद्धा रखने की आवश्यकता नहीं समझता और आदर्श-हीन धर्म-शिक्षकोंके परस्पर कलह और विवादने भी यह भाव उत्पन्न कर दिया है कि परम्परागत किसी भी धर्म-संस्थाको बिना परीक्षाके नहीं मानना चाहिये। केवल यही नहीं

किन्तु भिन्न भिन्न देशोंके साथमें व्यापार बढ़नेसे सुखके साधन घटते और कष्ट-साध्य होते जा रहे हैं। मनुष्योंकी वृत्ति-चञ्च-लताका अधिकतर भाग मानसिक और इन्द्रिय-विषयक आन-न्दोंके ढूंढनेमें लगा हुआ है। इस लिये इन कारणोंसे तत्त्व-शोधन-विद्या और साहित्य नये रूपमें बन रहे हैं। ऐसे समयमें अनुकरण करनेकी वृत्ति निकम्मी समझी जानेसे नये नये मार्ग ढूंढनेके लिये स्वतन्त्रताकी आवश्यकता होनेसे उसका प्रचार बढ़ रहा है। इन सब घटनाओंका सम्मिलित परिणाम यह हो रहा है कि विचार-स्वातन्त्र्यकी सत्ता और उसके प्रतापको सबने सब तरह मान लिया है।

(३) विचार-स्वातन्त्र्य पहले भी था।

हमारा यह दावा नहीं है कि विचार-स्वातन्त्र्यके अविर्भावमें ऊपर कही हुई घटनाएं ही कारण हो सकती हैं और कोई कारण नहीं हो सकते, किन्तु हमारे कथनका तात्पर्य इतना ही है कि युरोप और अमेरिकामें जो विचार-स्वातन्त्र्य बढ़ता जा रहा है तथा जिसका प्रभाव भारतवर्ष पर भी पड़ रहा है, उसके वर्तमान स्वरूपके उदयमें और और कारणोंके सिवा ऊपर दिखाये हुए कारण भी प्रधान कहे जा सकते हैं। भारतवर्षमें भी विचार-स्वातन्त्र्य-सत्ता प्राचीन कालसे चली आती है, यह माननाही पड़ेगा। नहीं तो बौद्ध जैन आदि इतने दर्शनोंका सम्भव यहां असम्भव था। हां, हमारे यहांके विचार-स्वातन्त्र्यके आवि-र्भावके कारण भी दूसरे थे और उस समयके विचार-स्वातन्त्र्य

का स्वरूप भी कुछ और ही था। आज कलके इस विचार स्वातन्त्र्यको समाप्ति –सीमा क्या होगी और उसका परिणाम भी क्या होनेवाला है? इस विषयको अविवेचित ही छोड़ कर हम यहां केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि हमारे यहांके विचार-स्वातन्त्र्यका यह अर्थ नहीं था कि शङ्का तो करना सब वस्तुओंके सम्बन्धमें और मानना नहीं किसीको भी। दार्शनिक-प्रवर उदयनाचार्य कहते हैं कि "व्याघातावधिराशंका" अर्थात् प्रवृत्तिका अघात नहीं हो, वहीं तक ही आशंका करनी चाहिये–इसलिये उचित रीतिसे स्वतन्त्र विचार करना हानि-कारक नहीं हो सकता, प्रत्युत इस प्रकारकी चर्चाओंसे ही प्रत्येक तत्वका निरूपण और निश्चय होता है। किन्तु इन चर्चाओंका फल होना चाहिये, तत्व-निर्णय। क्योंकि "वादे वादे जायते तत्व-बोधः"। प्रत्येक वाद और चर्चासे हंस की तरह नीरमेंसे क्षीर निकाल लेना ही हमारे यहांके विचार–स्वातन्त्र्यका उद्देश्य था।

(४) इस विचार-स्वातन्त्र्यसे क्या ईश्वर तथा धर्मके सम्बन्धमेंभी कुछ निश्चय कर सकते हैं?

अच्छा तो इस विचार–स्वातन्त्र्यसे हम ईश्वर और धर्मके सम्बन्धमें भी कुछ निश्चय कर सकते हैं? आरम्भमें तो यह बात कठिन मालूम पड़ती है किन्तु साथही यह भी कठिनता पड़ती है कि ईश्वर और परलोकके सम्बन्धमें केवल अन्ध विश्वासका ही सहारा लेकर हम रह जायँ और उनके सम्बन्धमें स्वतन्त्र विचार और तत्त्व-चर्चासे काम न लें तो फिर शिष्टजनोंका यह वाक्य निर-

र्थक हो जाता है कि वादसे ही तत्त्व-बोध होता है। साथ ही वेदान्त आदि दर्शनोंके प्रवर्तक ऋषियोंका परिश्रम भी जल–ताड़न–की तरह फालतू ही ठहरता है। यह सच है कि विचारके विषय प्राकृत पदार्थ ही हो सकते हैं, अप्राकृत पदार्थ नहीं । ईश्वर अप्राकृत पदार्थ है, उसके सम्बन्धमें पदार्थ-विज्ञान और रसायन–शास्त्रियोंकी प्रयोग–शालाएँ चुप हैं। परिमित और सापेक्ष बुद्धिसे निरपेक्ष ईश्वरका स्वरूप समझना कठिन है और यह भी ठीक है कि धर्म केवल श्रद्धाका ही विषय है। पदार्थ-विज्ञान और रसायन-शास्त्रमें जिस पद्धतिसे तत्त्वका निर्णय किया जाता है, उस पद्धति से धर्म तत्त्वका निर्णय नहीं हो सकता, यह बात किसीसे अज्ञात नहीं है। परन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि मनुष्यका ज्ञान परिमित है और उससे प्राकृत पदार्थों की सीमासे बाहरका विषय ग्रहण न किया जा सकता ; नेत्र आदिक इन्द्रियां जिसको ग्रहण नहीं कर सकें वह वस्तु, मनुष्यके ज्ञान की पहुंचसे दूर है और देश, काल आदिसे परिच्छिन्न वस्तुओं की सीमा को अतिक्रमण करने वाले विचारोंमें असमर्थ है। यदि ऐसा कहा और माना जायगा तो तत्त्व-निर्णयके लिये परिश्रम करने वाले विद्वान्, मूर्ख समझे जायँगे। केवल इतना ही नहीं, किन्तु तत्त्व–निर्णयकी बात शश-शृङ्गकी तरह केवल कहने सुननेका ही विषय रह जायगी। यह ठीक है कि हजारों विचारकोंका परिश्रम इस विषयमें निरर्थक गया है। प्रत्येक देशके महा-महिम-शाली मनस्वी मनुष्योंका मन इस फलको
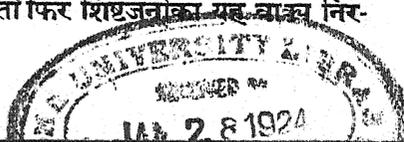
लेनेके लिये दौड़ा है, परन्तु वह भी थक कर बीच ही मेंसे लौट कर "नेति नेति" पुकार उठा है। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि किसीको तत्त्वकी प्राप्ति हुई ही नहीं। जगत्‌के महा-पुरुषोंका मन इस विषयको ओर आकर्षित होता रहा है, इसीसे इस विषयका महत्त्व सिद्ध होता है और यह निश्चय करना पड़ता है, कि फल-प्राप्ति अधिक कठिन होनेसे उसके लिये अधिक परिश्रमकी भी आवश्यकता है।

(५) धर्म—विचारमें श्रद्धाकी आवश्यकता।

धर्म-विचार और धर्माचरणमें श्रद्धा तो मुख्य है ही, परन्तु उसका स्वरूप समझना जरा कठिन है। कोई उपदेशक कह दे कि "सूईके नाकेमेंसे सात हाथी निकल गये और उनकी पूंछ नाकेमें ही रह गयी"—इसको सुन कर यदि कोई अक्षरशः सत्य मानले और इसीका नाम श्रद्धा रखा जाय तो यह मनुष्यकी विचार-शक्ति और दृष्ट पदार्थके सहारेसे अदृष्ट पदार्थका ज्ञान-सम्पादन करनेवाली प्रमातृ-शक्ति, इन दोनोंका बड़ा भारी अप-मान कहा जायगा। यह विषय तो निर्विवाद है, कि विचारका फल श्रद्धा ही होना चाहिये। प्राकृत विषयोंमें भी विचार-के द्वारा निश्चय कर लेने पर ही श्रद्धाके आधार पर प्रवृत्ति होती है। अपने अथवा अपनी दृष्टिमें विचार-सिद्ध किसी अन्य पुरुषको एक बार किसी विषयका निश्चय हो जाने पर फिर उस पर विचार करनेका प्रयोजन बाकी नहीं रह जाता है। हां, ऐसे भी जगत्‌में कुछेक महापुरुष होते आये हैं, जिनको वस्तु-

मात्रमें व्यापक, अपरिसीम, अनन्त, अनवच्छिन्न, शुद्ध, ज्ञान-स्वरूप तत्त्वका साक्षात् अनुभव हुआ है' उन्होंने ही—

"नैषा तर्केण मतिरापनेया"

इत्यादि श्रुतिवाक्योंमें श्रद्धाको शुष्क तर्ककी अपेक्षा प्राधान्य दिया है। इसलिये ही गुरु और ईश्वरके प्रसादकी प्राप्ति आवश्यक मानी जाती है और इसी लिये ही नमस्कारादि स्तुति-रूप उपासनासे अपने इष्ट देवके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना सप्रयोजन ठहरता है। इस प्रकार-के उपासना-परायण पहुंचे हुए मनुष्योंने सब देशोंमें और प्रत्येक समयमें मनुष्य-समाजके आदर, मान, बुद्धि और भाव अपनी ओर खींचे हैं। परन्तु साथ ही यह भी है कि इस प्रकारके मनुष्य संसारमें बहुत ही स्वल्प होते हैं।

धर्माचार और धर्म-विचारकी आवश्यकता प्रत्येक मनुष्यके लिये हैं, यह माना जाय तो जो विशेषता केवल कुछेक व्यक्तियोंमें हो, उसको धर्म-तत्त्व-ज्ञानका साधन मानना, एक प्रकारसे उचित जान नहीं पड़ता। यह ठीक है कि श्रद्धा और बहम वास्तवमें भिन्न हैं, परन्तु इन दोनोंके रूपमें इतना साम्य है कि दूसरोंकी दृष्टिमें किसी समय श्रद्धालु, बहमी और बहमी, श्रद्धालु जब जाते हैं। पर धर्म-तत्त्वका निश्चय समय पा कर केवल श्रद्धासे ही होता है, धर्माचार्योंके इस सिद्धान्तको छोड़ देनेसे किम्वा विचार-सिद्ध उपायोंसे जिन्होंने इस विषयमें सफलता पायी है,

उनके धर्म-तत्त्वके स्वरूप समझानेकी शैलीको मिथ्या मान, उसका त्याग करनेसे, केवल इतना ही नहीं होता है कि उसकी आवश्यकता कम हो जाती है प्रत्युत उसका (श्रद्धाका) अस्तित्व ही फिर निष्प्रयोजन मानना पड़ता है ; जो कि किसी दशामें भी अभीष्ट नहीं है। यह बात अनुभव-सिद्ध है कि विचारसे निश्चित की हुई वस्तुमें ही श्रद्धा होती है और टिकती है। हां, यह ठीक है कि सब मनुष्य प्रत्येक वस्तुके सम्बन्धमें अपने विचारसे किसी अच्छे निश्चय पर पहुंचनेमें असमर्थ होते हैं। इसलिये प्रायः प्रत्येक मनुष्य अपने निश्चयकी यथार्थताको किसी अन्यसे परीक्षा कराना चाहा करता है। परन्तु प्रत्येक मनुष्यकी स्थिति, वृत्ति, स्वभाव आदिको देखकर मनुष्य-मात्रके लिये अभीष्ट धर्मका तत्त्व-ज्ञान समझानेके लिये, हरेक व्यक्तिके अनुकूल भिन्न भिन्न साधनोंकी योजना करने वाले आचार्योंको स्वीकार कर लेने पर ऊपर कही हुई शङ्का नहीं ठहर सकती है। इस प्रकारके आचार्य किंवा महापुरुष थोड़ेसे हुए हैं। परन्तु उनके विचारोंका अनुशीलन और अनुसरण करना प्रत्येक विचारवान् मनुष्यका कर्तव्य है, इसीका नाम श्रद्धा है। इसको बहम कहनेवाले स्वयं बहमी हैं।

(६) धर्म-तत्वके जाननेकी आवश्यकता।

निस्सन्देह यह प्रश्न हो सकता है कि धर्म-तत्त्वके जाननेकी आवश्यकता क्या है ? जिसके लिये सब जगह मतमतान्तर चले हुए हैं, जिसके निश्चय करनेमें मनुष्यकी अगाध-बुद्धि बार बार

थक कर पश्चात् पद हुई है और जिसके लिये प्रयत्न करनेवालों-को प्रत्यक्ष लौकिक सुखोंका त्याग करना पड़े, उसकी आवश्यकता ही क्या है, इस प्रकारके प्रश्न, स्वतन्त्र विचार करने वालोंकी तर्फसे उठते हैं, ऐसी दशामें यदि धर्म-तत्त्व सत्य है तो स्वतन्त्र विचारोंके साथ इन प्रश्नोंका उत्तर दे कर समाधान करना, एक प्रकारसे स्वतन्त्र विचारका सम्मान बढ़ाना है। विचारणीय विषय है—धर्मकी आवश्यकता। इस पर हम यह कहेंगे कि धर्म आवश्यक है, परन्तु इस आवश्यकताका यह तात्पर्य नहीं है कि जिस तरह खान-पानादिके बिना मनुष्य-शरीर नहीं ठहर सकता, उसी तरह धर्म-तत्त्वके बिना भी वह नहीं ठहरेगा। किन्तु असल बात यह है कि मनुष्यके मनुष्यत्वमें अर्थात् उसके स्वभावमें धर्म-तत्व समाया हुआ है। मनुष्यकी आत्मा प्रत्येक समय, परिमित और सापेक्षकी मर्यादाको छोड़ कर अपरिमित और अनवच्छिन्न तत्वको पानेके लिये किंवा तद्‌-रूप होनेके लिये साभिलाष रहती है और केवल अनन्त ब्रह्म तत्वके साथ जो उसका नित्य सम्बन्ध है, उसको जान लेने हीसे वह निरन्तर उच्च गतिको पा सकती है। यह विषय, विचार-पूर्वक सिद्ध हो जाने पर धर्म आवश्यक है, यह भी सिद्ध हो जाता है। केवल यही बात नहीं है कि मनुष्यका परिमित ज्ञान, अपरिमित ईश्वरको पा सकता है, किन्तु यह भी सिद्धान्त है कि मनुष्यका ज्ञान अपरिमित ब्रह्मसे अभिन्न है। इसी तरह केवल इतना ही मान लेनेसे ठीक नहीं होता कि मनुष्यकी

भेद-बुद्धि दूर को जा सकती है, किन्तु साथ ही यह भी मानना पड़ता है कि उसको दूर कर देना, मनुष्यके लिये अभीष्ट भी है और ऐसा मान लेना ही, धर्मकी आवश्यकताको मान लेना, कहा जा सकता है। यदि दुःखका अत्यन्त उच्छेद और परमानन्दकी प्राप्ति मनुष्यके लिये अभीष्ट और आवश्यक है, एवं धर्म-तत्त्वका अन्त्यतम परिणाम यही माना जाय, कि संसार-के सब दुःखोंसे सदाके लिये छूटना और सनातन परमानन्दको पा लेना ; तो धर्म आवश्यक है, यह आपसे आप स्वीकार करना पड़ेगा। जिस भांति सुखके लिये नीतिका मार्ग अभीष्ट और आवश्यक है, उसी भांति अपरिमित केवल शुद्ध बुद्ध स्वरूपकी प्राप्तिके लिये मनुष्य-जीवनकी सब प्रकारकी इच्छाओंका पर्य्यव-सान कर देना अभीष्ट और आवश्यक है,—इस सिद्धान्तको मान लेना ही धर्मकी आवश्यकताको सिद्ध करता है।

(७) ईश्वर और जीवात्माकी सिद्धिके बिना धर्म-विचार बन नहीं सकता.

अब यह बात रही कि, यदि पहले जीवात्माको सिद्ध कर दिया जाय तो उसका परमात्माके साथ योग बन सकता है और तभी धर्मकी आवश्यकता भी मानी जा सकती है। प्राचीन समयमें चार्वाकोंका और वर्तमान समयमें युरोपके जड़-वादियोंका यह सिद्धान्त है कि जड़ परमाणुओंके एक प्रकारके योगसे ही जीवात्मा उत्पन्न होता है, वह कोई स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। उन-

के इस सिद्धान्तकी ओर देखते हुए जीवात्माको जड़का परिणाम मानना पड़ेगा ! ऐसी अवस्थामें उसका ईश्वरके साथमें योग नहीं बन सकता और साथ ही ईश्वरके अस्तित्व माननेमें कोई कारण नहीं दिखलायी देता। जबतक विचारके द्वारा यह सिद्ध न कर दिया जाय कि जीवात्मा जड़का परिणाम नहीं है और जब-तक शास्त्रीय और तात्त्विक रीतिसे ईश्वरका अस्तित्व प्रतिपादन न कर दिया जाय, तब तक धर्मके सम्बन्धमें जो कुछ भी कहा जायगा, वह सभी मिथ्या मानना पड़ेगा। इसलिये इस स्थान पर जड़-वादियोंके सिद्धान्तोंकी परीक्षा करना और ईश्वरके अस्तित्वको सिद्ध करनेका प्रयत्न करना उचित जान पड़ता है।

(८) जड-वादी और ज्ञान-शक्ति.

जड़-वादी कहते हैं कि बुद्धि—(ज्ञान-चेतन) शक्ति कोई स्वतन्त्र चीज़ नहीं, यदि कुछ है तो वह जड़ परमाणुओंका एक भाँतिका व्यापार है। उष्मा, (गर्मी) प्रकाश, बिजली, चुम्बकत्व आदि भिन्न भिन्न शक्तियाँ जिस भांति एक ही शक्तिके परिणाम हैं, उष्मा और प्रकाश जैसे परमाणुओंकी एक प्रकारकी गतिका नाम है, वैसे ही बुद्धि-शक्ति भी है। जब कि, जड़-शास्त्रियोंके नियमोंसे जड़से भिन्न प्रतीत होते हुए उष्मा आदि पदार्थोंका उपपत्ति-के साथ खुलासा होसकता है, तब कोई कारण नहीं कि जड़-शास्त्रोंके नियमोंसे उसी भांति बुद्धि-शक्तिका भी उपपत्ति—पूर्वक स्पष्टी-करण नहीं हो सकेगा। जड़-वादियोंकी मानी हुई शक्ति-के अनेक रूपान्तर हैं, उनके इस सिद्धान्तके आधारपर मनुष्यमें

ज्ञान-सम्पादनके लिये बुद्धि-शक्ति जैसे जो कई एक तत्व देख पड़ते हैं, वे भी उसी शक्तिके रूपान्तर हैं, यह अनायास ही सिद्ध होजाता है। यान्त्रिक शक्तिको जैसे रासायनिक शक्तिमें बदलते हुए देखा जाता है, उसी तरह यान्त्रिक शक्ति किंवा रासायनिक शक्ति भी चेतनके रूपमें बदल जाती है, ऐसा माननेमें और इन्द्रिय-बोध, इच्छा, कल्पना-शक्ति, विचार-शक्ति आदि जीवात्मा के—ये सब धर्म भी चेतन रूपमें बदले हुए जड़के ही रूपान्तर हैं, यह भी मान लेनेमें कोई अड़चन नहीं है।

इस तरह जड़-वादियोंका यह सिद्धान्त है, कि शक्तिका मूल जड़में है और इस सिद्धान्तको मानते हुए भी—वे बुद्धि-तत्वको स्वीकार करते हैं। यदि स्वीकार नहीं करें तो उनका काम भी नहीं चल सकता। बुद्धि-शक्ति जड़मेंसे उत्पन्न हुई है, ऐसा माननेपर भी यह तो उनको स्वीकार करना ही पड़ेगा कि बुद्धिका कोई व्यापार भी है अर्थात् उस व्यापारके द्वारा ही इस प्रकारका ज्ञान होता है। इसपर यह प्रश्न उठता है कि बुद्धि प्रथम बनी या उसका व्यापार? यदि कहा जाय कि, उसके व्यापारको हम पहले मानते हैं और पीछे उसीके द्वारा यह अनुमान करते हैं, कि जड़मेंसे बुद्धि उत्पन्न हुई है, तो ऐसा कहना, नीचे माथा और ऊपर पांव कर खड़े रहनेके प्रयत्न के बराबर है। क्योंकि बाह्य पदार्थ अर्थात् जड़ परमाणुओंका विचार केवल उनकी बाह्यताको लेकर नहीं होसकता। जो बुद्धि-शक्ति जड़-वादियोंके सिद्धान्तमें जड़ पदार्थमेंसे उत्पन्न हुई मानीजाती

है, उस बुद्धि-शक्तिके बिना अन्य कोई पदार्थ वाह्य विषयोंको अनुभव करनेमें समर्थ नहीं होसकता। इस विषयमें उनमें भी किसीका मतभेद नहीं है। जिन जड़-परमाणुओंका अस्तित्व माना जाता है और जिनका अस्तित्व देखनेमें आता है और विचारका विषय है, उनका अनुभव बुद्धि-तत्त्वके बिना असम्भव है। जो यह माना जायगा, कि बुद्धि-तत्त्व, जड़ परमाणुओंसे उत्पन्न हुआ है तो जड़ परमाणुओंकी सिद्धि, बुद्धि-तत्त्वके आधार को छोड़कर किसी और रीतिसे करनी पड़ेगी और ऐसा करना अशक्य होगा।

वाह्य विश्वको सत्य और ज्ञान-तत्त्वसे भिन्न मानना यह बात मनुष्यके स्वाभाविक अज्ञानका एक परिणाम है। यह स्वाभाविक अज्ञान कम हो सकता है और अन्तमें सर्वथा निर्मूलभी हो सकता है, यह हमें जगत्का अनुभव बता रहा है। असंस्कृत—बुद्धि मनुष्यके विचारमें यह बात नहीं आती है कि ये वाह्य पदार्थ मुझे "प्रतीत होते हैं" वह तो यह समझता है कि ये पदार्थ वास्तवमें "ऐसे ही हैं"। जिनकी बुद्धि थोड़ी बहुत परिमार्जित हो चुकी है, वे यह समझते हैं कि जिनको हम वाह्य पदार्थ कहते हैं, वे द्रष्टाकी वेदन—शक्तिकी अपेक्षासे ही अस्तित्वमें हैं। ऐसे मनुष्योंको वाह्य पदार्थ जिस रूपमें प्रतीत होते हैं, वे उनको उसी रूपमें मानते है और उनके परस्पर सम्बन्धादिको विचार करना तथा उनको ध्यान-पूर्वक अवलोकन करना आवश्यक मानते हैं। उनसे भी और अधिक—

विमल-बुद्धिवाले मनुष्योंको यह अनुभव होता है कि, वाह्य पदार्थोंमें जो रूप, रङ्ग, विस्तार आदि देखनेमें आते हैं; वे उन उन पदार्थोंके असली धर्म नहीं हैं, किन्तु हमने उन पर वैसे वैसे धर्मोंका आरोपण कर लिया है। क्योंकि एक ही पदार्थ किसी-के लिये अनुरागका कारण होता है और दूसरेके लिये द्वेषका, इस लिये विचारवान् मनुष्य यह मानते हैं कि पदार्थके भीतरी धर्मके कारणसे उस पदार्थकी वह विशिष्ट प्रकारकी प्रतीति नहीं होती, वह विशिष्ट प्रकार तो किसी कारणसे वहां आरोपित है। यद्यपि ऐसे मनुष्य भी नहीं समझते कि यह आरोपण—क्यों है? किन्तु आरोपण है, इतना वह अवश्य जान लेते हैं। इसी भांति ऐसा भी मनुष्य हो सकता, जिसको यह अनुभव हो जाता है कि विश्व-मात्र मुझसे अभिन्न है। किन्तु इस सम्ब-न्धमें यहां इससे और अधिक कहनेका अवसर नहीं है।

ऊपरके कथनका सार यह है, कि वाह्य पदार्थोंका अस्तित्व समझनेके लिये बुद्धि-शक्तिको स्वीकार करना पड़ता है। केवल यही नहीं, किन्तु जड़-वादी लोग वाह्य पदार्थोंके उत्पत्ति आदि क्रमको मानते हैं और वैसा करते हुए भी बुद्धि—जिसके बाबत वे जड़से उत्पन्न हुई है, ऐसा कहते हैं उसको उसकी उत्पत्तिसे पहले ही स्वीकार भी कर लेते हैं। अमुक अमुक प्राकृत कार-णोंसे प्राकृत शक्तिका व्यापार होने पर अमुक अमुक कार्य उत्पन्न होते हैं, ऐसा समझना अर्थात् शक्तिके स्वरूप और उसके व्यापारको जानना, यह बुद्धिका ही विलास है। इस प्रकार विचार करने

पर बुद्धि-तत्व, शक्तिका रूपान्तर है—ऐसा माननेकी अपेक्षा, शक्तिका अस्तित्व,बुद्धि-तत्त्वके लिये और बुद्धि-तत्त्वके द्वारा ही है, यह मानना, अधिक न्याय-सङ्गत है। नैसर्गिक सृष्टिके सब कार्योंमें नियमानुकूलता और एकरूपताको माने विना जड़-वादियोंका भी काम नहीं चल सकता। अब वाह्य पदार्थोंकी इन्द्रिय द्वारा प्रतीति होती है, ऐसा मानें और बुद्धि-शक्तिको न माने तो उस एकरूपताका रूप बिगड़ जाता है। भिन्न भिन्न ज्ञान और प्रतीतियोंके स्रोतको एक वीजके साथ सम्बद्ध रूपमें समझनेके लिये उन सबकी नोंद लेनेवाली, सबके परस्पर सम्वन्धको समझनेवालो, कोई एक सत्ता अवश्य माननी पड़ेगी। परिणाम अथवा विकारका विचार कोई नित्य वस्तु ही कर सकती है, इसलिये बुद्धि-शक्ति जो कि प्रतीति अथवा अनुभव तो नहीं है, किन्तु उनके सम्बन्धको समझनेवाली है, वह जड़ परमाणुओंके व्यापार-विशेषसे उत्पन्न नहीं हो सकती, किन्तु उक्त व्यापारको समझनेके लिये हमें पहले ही उसको स्वीकार कर लेना पड़ता है। "अमुक वस्तु है—ऐसा तभी कहा जा सकता है, जब कि वह वस्तु, बुद्धि-शक्तिके व्यापारका विषय हो और इस रीतिसे नैसर्गिक शक्तिका अस्तित्व ही बुद्धि-शक्तिके अधीन मानना पड़ता है। यद्यपि जड़से लेकर चैतन्य अर्थात् स्वयं-वेदन तक सभी रचनाओंका स्वरूप, जड़-वादी दार्शनिक केवल यान्त्रिक शक्तिके व्यापारको ही कारण मान कर समझानेकी चेष्टा करते हैं, किन्तु उनका यह

मत निर्दोष नहीं है। वे कहते हैं कि—रासायनिक कार्य, अणुओंके प्राकृतिक कार्य्योंके रूप-विशेष हैं ; चैतन कार्य, रासायनिक और अणु-सम्बन्धी कार्य्योंकी स्थिति-विशेष है और इसी तरह जब कि जीवात्मा स्वयम् जड़का रूप-विशेष है, तब जीवात्माके इन्द्रिय-बोध, वृत्तियां, इच्छा इत्यादि सब धर्म भी जड़ यान्त्रिक शक्तिके भिन्न भिन्न स्वरूप हैं। यद्यपि उनके यह विचार, प्रमाणोंसे सिद्ध नहीं हो सके हैं, किन्तु उन्हें आशा है कि आगे चलकर वे इन विचारोंको सिद्ध कर सकेंगे। अब हमें देखना चाहिये कि जड़-वादियोंके ये सिद्धान्त कहाँ तक सबल हैं। प्रथम तो केवल रासायनिक घटकोंके योगसे जीवात्माके उत्पन्न होनेका एक भी उदाहरण नहीं मिलता है। इसके अतिरिक्त सेन्द्रिय पदार्थोंका अन्त्यतम-घटक 'प्रथम रूप'-जिसमें सारी पोषण वर्धन आदि क्रियाएँ होती हैं, वह भी केवल रासायनिक संयोग नहीं है। चाहे जीवत् और मृत 'प्रथम रूप' के रासायनिक घटक देखनेमें एकसे प्रतीत होते हैं किन्तु विचारनेपर उनका व्यापार भिन्न भिन्न देख पड़ता है। इसलिये पोषण, वर्धन और उत्पादन आदि व्यापारका आधार, तद्-गत रासायनिक तत्वोंके ऊपर नहीं है, किन्तु किसी और ही वस्तुके सहारे पर है।

(६) निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय पदार्थोंमें विलक्षणता.

निरिन्द्रिय पदार्थ और सेन्द्रिय पदार्थोंका जो स्वरूप हमें प्रतीत होता है, उसमें भी इतना अधिक भेद है कि जिन कारणों और नियमोंसे निरिन्द्रिय पदार्थोंकी

रचना समझी जा सकती है, उन्हीं कारणों और निय-मोंसे सेन्द्रिय पदार्थोंकी रचना समझनी अशक्य है। निरिन्द्रिय पदार्थोंमें हमें एक रूप अखंडत्वका अनुभव नहीं होता। पत्थर अथवा मिट्टीके ढेलेको फोड़ेंगे तो उसके दो टुकड़े हो जायंगे और दोनों टुकड़े पत्थर अथवा मिट्टीके ढेले ही बने रहेंगे। इस तरह पृथक् करने पर इस प्रकारके पदार्थकी अखण्डतामें दूसरी तो हानि कुछ भी नहीं हुई, केवल उसका रूप छोटा हो गया। सेन्द्रिय पदार्थोंमें इससे उलटी बात देखनेमें आती है, सेन्द्रिय पदार्थके दो टुकड़े करिये, उसके प्रत्येक भागमें फिर अखण्डता नहीं रहेगी। कोई भी सेन्द्रिय पदार्थ अपने भागोंका समूह नहीं है, किन्तु उसके भागोंका समूह किया गया है अवश्य, और जो उसका विभाग किया जायगा तो उसके अखण्डत्वका नाश हो जायगा। अब विचार करनेसे स्पष्ट समझमें आ जायगा कि निरिन्द्रिय और सेन्द्रिय दोनों प्रकारके पदार्थोंमें प्रतीत होने वाले स्वरूपका यान्त्रिक शक्तिके व्यापारसे स्पष्टी-करण करना केवल निरर्थक प्रयत्न है।

सेन्द्रिय पदार्थ स्वयम् ही बढ़ते और किसी विशेष रूपमें आते हुए दिखायी पड़ते हैं। बीजमें सहकारी मिलने पर वृक्ष-रूपमें पहुंच जानेका धर्म बना हुआ है, किन्तु निरिन्द्रिय पदार्थोंमें इस प्रकारका कोई धर्म मालूम नहीं होता। मनुष्यकी रचना, जो गृह आदि हैं—उनके पत्थर, ईंट आदि सब पदार्थोंमें, उनका कोई अपना अपना ऐसा धर्म नहीं है कि अमुक पदार्थ, अमुक कार्य भी

करेगा, किन्तु मनुष्य ही उनका अपने ढंग पर उपयोग कर, उनमें बनावटी एकरूपता ले आते हैं। सेन्द्रिय पदार्थोंकी गति इनसे विपरीत है, इन पदार्थोंके सम्बन्धमें उनकी 'अमुक रूप बनाना, —ऐसी योजना किसी वाह्य स्थानसे नहीं आती है। 'अमुक रूप बनाना, ऐसी योजना उनमें अपनी ही रहती है। यान्त्रिक रचनाओंमें गति आदि शक्तियां—जिनको कारण माना जाता है, वे कार्यों (उष्मा आदि) में लीन हो जाती हैं। रासायनिक संयोगोंमें उनके घटक पदार्थोंके अपने अपने धर्म, नये उत्पन्न होते हुए पदार्थके धर्ममें लीन हो जाते हैं, परन्तु सेन्द्रिय पदार्थोंमें तो कारणका कार्यमें लय नहीं होता, वह तो उस (कार्य) में बना ही रहता है। इतना ही नहीं, किन्तु वह उसमें अपनेको अपने रूपमें रख सकता है। इस प्रकार रासायनिक और यान्त्रिक कार्य्योंमें कार्य, कारणसे भिन्न रहता है, अथवा कारण, कार्यसे अलग होता है। किन्तु सेन्द्रिय पदार्थोंमें तो कार्य और कारण एक ही होते हैं, कारण ही कारणका कारण भी रहता है और कार्य रूपमें प्रतीत भी होताहै। किन्तु हम जब बुद्धि-शक्ति और स्वयं-वेदनके कार्य्योंकी ओर दृष्टि करते हैं, तब वहां जो विचित्रता किम्वा अनूठापन देखनेमें आता है, वह हमें आश्चर्यमें डाल देता है (आश्चर्यवत्पश्यति कश्चिदेनम्)। यहां जो कार्य है, वह अपने पूर्व-वर्ती प्राकृतिक पदार्थोंसे सर्वांशमें भिन्न होता है। प्राकृतिक पदार्थोंका अस्तित्व, उनका अपने लिये नहीं होता है, किन्तु उनका अपना

जो द्रष्टा किम्वा ज्ञाता है, उसके लिये है। ये प्राकृतिक पदार्थ, द्रष्टाके लिये दृश्य हैं किन्तु इच्छा, वृत्तियां, विचार,स्वयम्-वेदन इत्यादि तो द्रष्टा और दृश्य दोनों रूप हैं। निरिन्द्रिय पदार्थों में परमाणु, द्व्यणुक, संयोग इत्यादि देखनेमें आते हैं और उनका अंग (भाग) एक दूसरेसे निरपेक्ष होता है। किसी भी प्राणीका शरीर उसके सब अंगोंका समूह है—इतना ही नहीं, किन्तु वह अपने अंगोंको आप जानता है—इतना उसमें और भी विशेष है और बुद्धिके स्वरूपका विचार करने पर तो हमें उसमें एक सम्पूर्ण अखण्डता प्रतीत होती है। यहां ऐसा कोई भी भाग देखनेमें नहीं आता कि जिसमेंसे एक कार्य हो सके और दूसरा कारण हो सके। इसलिये वाह्य शक्ति, बुद्धिका कारण नहीं हो सकती, क्योंकि वाह्य शक्तिका अस्तित्व ही बुद्धिके अधीन है और 'वह वस्तु है' इतना समझ लेते ही बुद्धिको स्वीकार कर लेना पड़ता है। इस भांति विचार करने पर निरिन्द्रिय जड़, सेन्द्रिय पदार्थ (जीवात्मा) और बुद्धि अथवा स्वयम्-वेदन (ज्ञान शक्ति—ईश्वर) ये तीनों एक दूसरेसे सम्पूर्ण विलक्षण सिद्ध होते हैं। जड़ पदार्थों की स्थिति, वाह्य कारणोंके ऊपर आधार रखती है, असलमें तो वह वाह्य (अपनेसे व्यतिरिक्त) पदार्थों का समूह-मात्र है एवम् वहां जो कार्य-कारण-व्यवस्था है, वह सीधी सादी है। सेन्द्रिय पदार्थों में वाह्य और आन्तर दोनों हैं सही, पर वहां वाह्य, आन्तरके अधीन रहता है। और उनमें कोई ऐसा तत्व रहता है कि जो अपने लिये अमुक

रूपमें आनेकी आप ही पहले ही योजना पक्की कर चुका है। बुद्धि किम्वा स्वयम्-वेदन तो इन सबसे भिन्न है। वाह्य पदार्थोंका उसके ऊपर आधार नहीं है और उसका वाह्य पदार्थोंपर आधार नहीं है। वह एक स्वयम् अखण्ड तत्व है। अब आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि "जड़ परमाणुओंकी गति-विशेष, चेतन और उसके ज्ञान आदि धर्म्मोंका कारण अथवा मूल-स्वरूप है"—यह कहना कितना अधिक सदोष है। जड़ पदार्थ और उनके सम्बन्धको समझानेवाली बुद्धि, उन जड़ पदार्थों और उनके सम्बन्धका परिणाम है—ऐसा कहनेकी अपेक्षा इस प्रकार कहना अधिक सुन्दर और न्याय-पूर्ण होगा कि जड़ पदार्थ और उनके सम्बन्धके अस्तित्वकी जो अपनेको प्रतीति होती है, वह बुद्धिका ही तद्रूप परिणाम है।

(१०) आत्म-तत्वको माने बिना जड़-वादका
कोई भी नियम टिक नहीं सकता.

इस प्रकार बुद्धि अथवा ज्ञान जो कि आत्माका धर्म्म अथवा-स्वरूप है, वह जड़ पदार्थसे उत्पन्न हुआ है, यह कहना—न्याय विरुद्ध है, यह समझा देनेके बाद, हमें यह कहनेका प्रयोजन दिखायी नहीं देता कि आत्मा भी जैसा तैसा कोई तत्त्व है ही। सभी पदार्थ किसी मूल-भूत सूक्ष्म रूपमेंसे आविर्भूत होते हैं, ऐसा सिद्धान्त यदि मान लें, तो भी जब कि वे पदार्थ, अमुक रूपमेंसे ही आविर्भूत हुए हैं, ऐसा मानेंगे, तब इस प्रकारकी योजना

पहलेसे ही थी, यह भी मानना पड़ेगा। इसके सिवा "योग्य-तम ही अवशिष्ट रहता है" इस नियमकी ओर ध्यान देनेपर भी योग्यतम होनेका प्रयत्न करनेवाला कोई विचारक तत्त्व स्वीकार करना होगा, और आत्म-संरक्षणके हेतुको सामने रखकर यदि योग्यतम होनेके प्रयत्न करनेके सिद्धान्तको लेंगे तो भी आत्म-तत्त्व (अहन्ता किम्वा अपनापन) माने बिना निर्वाह नहीं होगा। अपने आप अपना पोषण, स्वयं वर्द्धन और उत्पादन करनेवाले 'प्रथम रूप' को यदि परिमाणुओंका योग माना जाय, तोभी, यह योग, अमुक रूपका होनेके लिये ही परिमाणुओंका सम्बन्ध हुआ है और उससे उनमें कोई भी ऐसा तत्त्व अवश्य रमा हुआ है, जो चाहता है कि "अमुक स्थल पर जाऊं और अमुक कार्य्य करूं।" इस भांति यदि वाह्य पदार्थोंका वाह्य विषयको लेकर ही विचार किया जाय, तोभी यह माने बिना काम नहीं चलेगा कि उसमें अपनापनको माननेवाला कोई तत्त्व अवश्य रहता है, वह चाहे जिस प्रकारका क्यों न हो। अब इस आत्म-तत्त्व (मैं—आप— इस तरह माननेवाला जो कोई भी एक तत्त्व है, उस) में ऐसी क्या बात है कि जिससे वह अनन्त और अपरिमित रूपमें पहुंच-नेके लिये सदा चेष्टा किया करता है, यह विषय विचारणीय है।

(११) मनुष्यकी उच्चाभिलाषा ही ईश्वरको सिद्ध करती है.

जड़ और चेतनमें जो विलक्षणता है, उसका वर्णन पहले हो चुका है। चेतनमें "मैं आप" इस प्रकारका विचार रहता है, किन्तु यह विचार जैसे जैसे शुद्ध रूपमें आने लगता है, वैसे वैसे ही

'मैं आप' इस संज्ञासे जो कुछ भी समझमें आ रहा है, उसमें फेर पड़ जाता है। क्षुद्र प्राणियोंकी अहन्ता (अहंकार) केवल उनके शरीरमें ही सीमाबद्ध रहती है। 'जो मैं हूं सो शरीर है और जो शरीर है सो मैं हूं,—यह विचार उनमें इतना अधिक दृढ होता है कि शरीरके सुख-दुःख उनको सबसे अधिक तीव्र लगते हैं और उनके लिये वे सबका परित्याग कर देते हैं। उच्च प्रकारके प्राणियोंकी अहन्ताका विषय जरा विस्तीर्ण हो जाता है। प्रीति, द्वेष आदि वृत्तियां उनमें प्रादुर्भूत हो जाती हैं, इससे उन वृत्तियोंके सन्तोषके लिये वे अपने शरीरको सङ्कटमें डालते डरते नहीं हैं। सिंहनी जिस भांति अपने बच्चेको रक्षाके लिये अपने जीवनको न्योछावर कर देती है, उससे यही प्रतीत होता है कि उसकी अहन्ताका विषय केवल उसका स्थूल शरीर ही नहीं रह गया है, किन्तु जिसे वह अपना मानती है, वह भी हो गया है। मनुष्यकी अहन्ताका विषय इससे भी अधिक विस्तृत है; दया, स्वदेशाभिमान और दूसरी दूसरी कितनी ही उच्च वृत्तियां मनुष्यमें इतनी अधिक स्फुट होती हैं कि उनके लिये वह अपने अपनापनके विषयको व्यक्ति-मात्र–परिमित प्रदेशका उल्लंघन करके बहुत ही अधिक बढ़ाये हुए होता है। इस प्रकार अपनापन ज्यों ज्यों अधिक बढ़ता है, त्यों त्यों उसका विषय-प्रदेश भी अधिक अधिक विस्तीर्ण हो जाता है।

वाह्य पदार्थ और मनुष्यात्मा—देखनेमें तो यह दोनों ही परिमित मालूम होते हैं, किन्तु इनकी परिमितता अलग अलग ढङ्ग-

की है। वाह्य पदार्थोंके स्वरूप हमें उनके वाहरी दिक् काल आदिके सम्बन्धसे समझने पड़ते हैं और इससे उनका स्वरूप अवच्छिन्न रूपमें रहजाता है। परन्तु बुद्धिका अवच्छेदक, बुद्धि से वाह्य नहीं है, बुद्धि ही अपनेको ग्रहण करनेमें आप समर्थ है। प्राथमिक दृष्टिसे देखने पर तो मनुष्य अज्ञान और वाह्य पदार्थ, अनतिक्रम्य वाह्य शक्ति और वाह्य नियमोंसे परिवेष्ठित प्रतीत होते हैं, इतना ही नहीं किन्तु 'मैं आप' इस विचारके साथ ही 'वाह्य' —यह विचार-सम्बन्ध भी आपसे आप आ जुटता है। इन दोनों के बीच ग्राह्य- ग्राहकताका सम्बन्ध बना हुआ है—यह हम माने हुए हैं, तो भी मनुष्य-ज्ञानका विचार करते समय उसमें रहती हुई एक प्रकारकी विशेषता हमें दिखायी देती है, और इस विशेषतासे ही मनुष्य-ज्ञानका अवच्छिन्न पदार्थोंके साथ वैषम्य है।

पहले वर्णन होचुका है कि स्वयम्-वेदन अथवा बुद्धिमें एक इस प्रकारका तत्त्व रहता है कि जिसके लिये वह अपनेसे वाह्य पदार्थोंमें अपनेको ढूंढनेकी बरावर चेष्टा किया करता है। जड़-वादियोंकी भाषामें कहिये तो 'अज्ञातका जानना' और चैतन्य-वादियोंकी भाषामें कहिये तो, अपनेसे वाह्यवत् जाने हुए पदार्थोंमें अपने आप ही अपना अनुभव करना, यह बुद्धि अथवा ज्ञानका स्वरूप है। मनुष्यके स्वभावकी ओर देखकर हमें मानना पड़ता है कि ज्ञानके बढ़ानेमें और सब वस्तुओंसे आगे बढ़नेकी योग्यता और शक्ति मनुष्य प्राणीमें रमी हुई है। एवं इन दोनों बातोंमें

चाहे वह कितना ही आगे क्यों न बढ़ जावे, फिर भी उसकी प्रेरक वृत्ति—उसमें रहनेवाली कोई एक प्रेरक शक्ति, सन्तुष्ट नहीं होने पाती है। हम जानते हैं कि हमारा ज्ञान परिमित है, तो भी विचार करते समय हम अपने ज्ञानकी सीमाका अनुमान नहीं लगा सकते। हम यह बात स्पष्ट नहीं समझ सकते, कि अमुक सीमासे आगे हमारा ज्ञान बढ़ेगा ही नहीं। हम यह माने हुए हैं कि, हम काम, क्रोध आदिके इतने वशीभूत हैं, कि स्वयम् ही सम्पूर्ण नीतिमान् नहीं बन सकते, हमें अपनी इस दुर्बलताका अनुभव प्रत्येक अवसरपर होता है, किन्तु साथ ही हम यह भी नहीं कह सकते कि इससे आगे हम नीतिमें बढ़ ही नहीं सकेंगे। इन प्रमाणोंसे मालूम होता है कि मनुष्यमें आगे बढ़नेकी निर्वाधित और निस्सीम योग्यता और शक्ति रहती है। केवल यही नहीं, प्रत्युत उसके साथ ही उसमें उच्चताका विचार इतना अधिक उत्कृष्ट है कि जितना जितना वह आगे बढ़ता है, उतनी उतनी ही उसे अपनी स्थिति ओछी मालूम पड़ती है, उसकी इन दोनों वृत्तियोंका अन्त, सम्पूर्ण,निर्दोषत्व,केवल, शुद्धत्व, सर्वज्ञत्व और सर्व-शक्ति-मत्वमें होता है। जब कि उसके लिये कोई भी प्राप्तव्य या कर्तव्य बाकी नहीं रहजाता है ; तभी इस मनुष्यकी वृत्तियोंकी चञ्चलता शान्त होती है, और जब कि इसको निर्विशेष आनन्दकी प्राप्ति होती है, तभी इसके सबके सब कर्त्तव्य-प्राप्तव्य समाप्त हो जाते हैं एवम् उसी समय उपनिषदोंकी 'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस वाणीका अनहद-नाद उसे सुनायी पड़ता है।

इस प्रकार मनुष्यमें मूलसे ही 'मैं आप, इस विचारके साथ सर्व-ज्ञत्व और सर्व-शक्ति-मत्वका विचार बना हुआ है।

एवम् यह (ज्ञेय) और मैं (ज्ञाता) इन दोनोंके अपने अपने प्रदेशोंकी सीमाएं क्रमसे घटती और बढ़ती हुई अन्ततो, गत्वा अंशसे भी बाकी नहीं रहजाती हैं और दोनों केवल एक अद्वैत रूप रहजाती है। 'मैं (ज्ञाता)' यह जब कि 'इस (ज्ञेय)' की अपेक्षासे ही है, तब इन दोनोंके एक रूप होजानेपर दोनोंका लय किम्वा दोनोंका परिणाम (जो आप परिणाम शब्दको व्यवहारमें लायें तो) ज्ञानमें हो जाता है। एवम् उस समय परम तत्व–वेत्ता पुरुषोंके हृदयसे यही उद्गार निकलता है कि "मैं नहीं, तू नहीं,— केवल वही है।" प्रत्यभिज्ञान-वादियों (एक प्रकारके दार्शनिकों) ने भी यह माना है कि, जीवको ईश्वरका ज्ञान अनादि कालसे ही है, उनका यह सिद्धान्त हमारे विचारोंको अधिक स्पष्ट कर देता है (देखो प्रत्यभिज्ञा-दर्शन)

(१२) अपनी अपूर्णताका भान ही किसी, एक

नित्य पूर्ण वस्तुको सिद्ध करता है.

हम ऊपर कह चुके हैं कि, हम अपूर्ण हैं, इस प्रकारका भान हमें है, किन्तु यदि हमारेमें सम्पूर्णताका विचार नहीं होता तो इस भावका होना अशक्य था। कोई इस तरह भी कह सकता है कि आपमें जो अपूर्णताका विचार है, वह आपमें आपकी अपू-र्णतासे ओछी अपूर्णताकी अपेक्षासे है, किन्तु उसके यह माने

नहीं लगाने चाहियें कि आपमें सम्पूर्णताका भी विचार है। इस प्रकार कहनेवालोंके प्रति हमारा इतना ही वक्तव्य है कि आप अपनी अपूर्णताको एकबार घटाइये, किन्तु दूसरी स्थितिमें पहुंच जानेपर भी आपको अपनी अपूर्णता फिर खटकेगी, इस प्रकार अन्ततक आपकी यही दशा रहेगी।

अब सोचिये कि यदि आपमें किसी **एक नित्य सम्पूर्ण** वस्तुका विचार नहीं होता, तो इस तरह आगे बढ़ते रहनेपर भी प्रत्येक क्रममें जो आपको अपूर्णताका भान होता है, यह कभी नहीं होता। जिस मान-दण्डसे आपने जो जो वस्तुएं पायी हैं, उस मान-दण्डसे नापनेपर वे सभी वस्तुएं ओछी पड़ जाती हैं। साथ ही यह भी माना जायगा कि उस मान-दण्डका विचार आप में आरम्भसे ही है। निस्सन्देह, कोई वस्तु है—यह बात आप उस वस्तुके ज्ञान होजानेके पीछे ही कह सकते हैं। आपने अब जिस वस्तुको जाना है, उसका अस्तित्व आपके ज्ञानके पूर्व भले ही रहे, किन्तु उसका अस्तित्व आपके लिये तो तभी माना जायगा और तभी शक्य है, जबसे कि आपने उसको जान लिया है। दूसरे शब्दमें कहिये तो अस्तित्व और ज्ञातत्व (सत् और चित्) एक दूसरेसे अभिन्न हैं। अब 'मैं हूं' इसका अर्थ समझिये तो 'मैं ज्ञात हूं' ऐसा होगा। और भी विचारसे पृथक् करण करते समय आप समझेंगे कि, जिसका 'हूं' में समावेश होता है, ऐसा जो 'मैं' है, उसका 'ज्ञात' में समावेश होगया है, अर्थात् 'मैं' व्याप्य है, 'हूं' और 'ज्ञात' व्यापक हैं। इस प्रकार 'मैं ज्ञात

हूं' ऐसा जानते समय किसी ज्ञाताकी अपेक्षा रहती है, और जबतक ज्ञाता और ज्ञातके एकत्वका विचार नहीं होता है, तबतक "मैं मुझे ज्ञात हूं" यों ही कहना पड़ेगा, तो भी 'मैं' पद द्वारा सूचित ज्ञाता, 'हूं' की अपेक्षा कुछ न कुछ अधिक है, ऐसा भान होता है।

अब ऊपर हम आपसे कहचुके हैं कि वेदन-शक्ति अपने अन्त्यतम सम्पूर्ण रूपमें नहीं आती है, तबतक विस्तीर्ण होती ही रहती है। एवम् वेदन-शक्ति और 'मैं' पर्य्याय मात्र होनेसे, जिसे ज्ञाता माना गया है, वह 'कोई' केवल और सम्पूर्ण होना चाहिये, यह समझमें आजाता है। इस भांति जब तक, 'मैं' अल्पज्ञ 'हूं'–'मैं' अमुक 'हूं' इत्यादि विचार हैं, तबतक 'मैं' तत् तद् रूपमें 'किसी'को ज्ञात हूं, यह 'कोई' 'मैं' से भिन्न रूपमें समझा जाय, सो बात नहीं है। कारण कि ज्ञाता और ज्ञेय ये दोनों एक दूसरेसे भिन्न रूपमें समझने अशक्य हैं, तो भी उनकी भिन्नताका निर्विकल्प रूप और तरह लक्ष्यमें आसकता है। 'मैं' इसको जानता हूं, यह कहते समय 'मैं' 'यह' और 'इसका ज्ञान' ये तीनों किसी **एक, नित्य, सत् और चित्की** अपेक्षा करते हैं। 'ज्ञेय मैं' का जो 'सच्चिदानन्द ज्ञाता मैं' के रूपमें परिवर्त्तन होता है, वह पहले ही से 'मैं' के भीतर समाविष्ट था, इसीसे श्रीरामानुजाचार्यने 'मैं' पद–वाच्य जीवको 'केवल मैं' पद–वाच्य ब्रह्मका शरीर कहा है।

ये विचार हमने हमारी टूटी फूटी भाषामें कहे हैं। हमें भय है कि जैसी स्पष्टतासे कहना चाहिये था, वैसे हम कह नहीं सके

हैं। कारण, यह विषय ही ऐसा हैं। पाठक-वर्गसे हमारा केवल इतना ही वक्तव्य है, कि 'मैं' इस विचारके साथ ही अपनी व्यक्तिकी सीमाका अतिक्रमण करनेवाली वृत्ति रहती है और जिसे वह अपनेसे वाह्य गिनती है, उसे जाननेके लिये अथवा उसमें अपने आपको देखनेके लिये बराबर चेष्टा करती रहती है। और जब कि व्यक्ति-रूप 'मैं' के साथ समष्टि रूप 'मैं' का विचार मूलसे ही बना हुआ है, तब सम्पूर्ण, केवल, नित्य, निर्विशेष, अद्वैत सच्चि-दानन्द्—यह जिसका अन्त्यतम स्वरूप है, ऐसा धर्म, बीज रूपसे कभी भी अलग न होसके ऐसे रूपमें—मनुष्यमें बना हुआ है, ऐसा माननेके लिये यथेष्ट कारण है। जैसे क्षुधा स्वभावसे ही लगती है और उसकी शान्तिके लिये अन्न आवश्यक है, वैसे ही स्वभावसे जब कि व्यक्ति-रूप 'मैं' की चेष्टा समष्टि-रूप 'मैं' में पहुंचनेकी है, तब उस चेष्टाको सन्तुष्ट करना भी आवश्यक हैं, और उस चेष्टा किम्वा-वृत्तिको सफल किम्वा सन्तुष्ट करनेका उपाय धर्माचरण किम्वा उसका फल, ज्ञान है।

(१३) मनुष्यकी वृत्तियोंको परिमितसे अपरि-मितमें पहुंचकर ही शान्ति मिलती है.

ऊपर हमने मनुष्यके स्वभावमें रहनेवाली जिन दो वृत्तियों-का बर्णन किया है, उनपर भली प्रकार विचार करनेसे ईश्वरका अस्तित्व भी सिद्ध होजाता है। परिमित और अवच्छिन्नकी सीमाका अतिक्रमण कर अपरिमित और अनवच्छिन्नमें पर्य्य-

वसान पाना—वहांपर विश्रान्त होना—जो मनुष्यकी वृत्ति है, वही ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध कर देती है। वाह्य विश्व-प्रपञ्च-का जो अनुभव होता है, वह क्षणिक, मध्य-व्यक्त और अस्वतन्त्र है। मनुष्यकी अन्तर्वृत्ति बुद्धि-शक्ति—इस विश्व-प्रपञ्चका कारण ढूंढनेके लिये प्रयत्न तो करती है, किन्तु उसे जड़ पदार्थसे सन्तोष नहीं मिलता और जब तक वह किसी नित्य अनाद्यन्त स्वतन्त्र वस्तुको नहीं पा लेती है, तब तक उसे विश्राम नहीं मिलता है। यह स्पष्ट है कि अपनी सदोषताका ज्ञान होनेसे और उससे असन्तोष होनेपर, उसे दूर करनेका उपाय ढूंढनेके लिये ही यह वृत्ति उदित होती है और जब उसे प्राप्य वस्तु मिल जाती है, तभी उसे शान्ति मिलती है। एवम् यह भी स्पष्ट है कि अपनी अपूर्णता-का भान और उससे अपनेमें असन्तोष होनेसे अपनी सम्पूर्णता (जो अपनेमें अवश्य है और जिसके लिये अपनेको अपूर्णताका भान हुआ है, उसके) प्राप्त करनेकी वृत्ति उदित होती है और उसकी प्राप्ति होनेपर ही परम सन्तोष मिलता है। इसी प्रकार अपनेको विश्वके क्षणिकत्व, प्रयोज्यत्व और पारतन्त्र्यका भान होनेपर (और इस भान होनेमें हेतु हैं, अपनेमें गुप्त रहनेवाले नित्यत्व आदिके विचार) वृत्तिको जब किसी नित्य, प्रयोजक और स्वतन्त्र तत्त्वकी प्राप्ति होती है, तभी उसमें वह परम विश्रान्ति पाती है। यह सब कुछ अनन्तकालसे होता आरहा है। विचारवान् मनुष्यकी इस इन्द्रियानुभूत विश्वसे असन्तुष्ट रहनेवाली और उच्चतमकी अवधितक उच्चतरसे उच्चतमके प्रति

दौड़नेवाली वृत्ति नेति नेति (नेदं यदिद मुपासते) कह कहकर अपना असन्तोष प्रकट करती आई है। इससे कुछ यह सिद्ध नहीं होता कि ईश्वर अभाव-रूप हैं। मनुष्य-ज्ञान अथवा वेदन-शक्तिको जिस जिसका अनुभव होता है, उसे उसे वह—स्वयम् जिसकी प्राप्तिके लिये यत्न करती है, वह नहीं है, यही कहती है।

इससे जिसका उसके मनमें विचार है, वह केवल निषेधका विषय है, ऐसा नहीं समझना चाहिये और न ऐसा समझा ही जा सकता है। क्योंकि ईश्वर, यदि केवल अत्यन्ताभाव-रूप हो तो, उसमें प्रवृत्ति करा सके ऐसा विचार ही मनुष्यमें स्वभावसे होना सम्भव नहीं है। व्रजाङ्गनाएं (गोपियां) अनन्य-मना होकर 'कृष्ण' 'कृष्ण' टेरती हुई यमुनाके तटपर घूम रही हैं, जगत्की और किसी भी वस्तुसे उन्हें सन्तोष नहीं मिलता है। मनुष्यकी वृत्तियोंके लिये यह एक सुन्दर रूपक है। क्योंकि मनुष्य-की वृत्ति-रूपी गोपाङ्गनाओंको यह सारा वाह्य विश्व-प्रपञ्च रूखा लगता है, और जिसका स्वरूप वे अपने हृदयमें छिपाये हुए हैं, उसकी प्राप्ति होनेपर, उसके साथ मिल जुल जानेपर—अर्थात् प्रेम करनेवाला और प्रेमका विषय—इन दोनोंका प्रेममें लय होकर-केवल एक प्रेमहीके अवशेष रह जानेपर, उन्हें परम सन्तोष मिलता है। हमारे न्याय-शास्त्रियोंको यह दृष्टान्त हास्य-जनक लगे तो भले ही लगे, किन्तु इस स्वाभाव-सिद्ध न्यायके आधारसे ईश्वरका अस्तित्व सिद्ध हुए विना नहीं रह सकता।

(१४) जगत्की प्रयोज्यता और पर-तन्त्रता ही प्रयोजक और स्वतन्त्र ईश्वरको सिद्ध करती है.

हम कह चुके हैं कि विश्व-प्रपञ्च क्षणिक, प्रयोज्य और पर-तन्त्र समझ पड़ता है और उससे कोई नित्य, प्रयोक्ता और स्वतन्त्र माना हुआ ईश्वर सिद्ध हो जाता है, परन्तु इस रीतिसे समझानेपर ईश्वर, विश्व—प्रपञ्चके धर्म्मों से अछूता समझा जाता है। यद्यपि मनुष्यकी अन्तर् वृत्तिमें ईश्वरका विचार होनेसे इतना तो कहना पड़ता है कि, वह है, तो भी इस लक्षणसे उसका भावात्मक स्वरूप किसी दूसरेको नहीं समझाया जा सकता। माना कि विश्व-प्रपञ्च क्षणिक है, तो भी वह कुछ तो है अथवा जिसके क्षणिक, अनित्य, परतन्त्र आदि धर्म्म हैं वैसी वस्तु कुछ तो माननी पड़ेगी? उसे हम केवल शून्य नहीं कह सकते। बौद्धोंके शून्यवादके सम्बन्धमें विचार करते समय श्रीशङ्कराचार्यने इस विश्वको ब्रह्मका विवर्त्त कहा है और शांकर मतका हार्द नहीं समझनेसे कुछेक दार्शनिकोंने विश्वको शश-शृङ्ग-वत् कहकर उड़ा दिया है। इस स्थलपर उक्त विषयके सम्बन्धमें अधिक समालोचनाका अवसर नहीं है, किन्तु इतना ही कह देना अलम् है कि जिसके क्षणिक आदि धर्म हैं, ऐसा विश्व कुछ है। और यह क्यों हैं, किस लिये है, किस तरह है? यह विचार हैं, जो स्वभावसे ही उठते हैं। यह जाननेकी इच्छासे ही न्याय-शास्त्रियोंने जगत्के स्वरूपपर विचार किया है, उन्होंने इसको

स्वरूपतः सत्य मानकर इसमें सविचार रचना देखकर ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धि करनेके लिये अपना सिद्धान्त दोहराया है। किन्तु इस भांति यदि ईश्वरको विश्वका रचनहार किम्वा सङ्गठनकर्ता माना जाय तो उसकी रचना किम्बा सङ्गठनके द्रव्य—उपादान कारणपर आधार रखना होगा। यद्यपि जो इन द्रव्योंका करनहार है, वह पूरा शक्तिमान् है, तो भी उसकी सम्पूर्णतामें—जो सम्पूर्णता हमारा मान-दण्ड है, उसके आधारसे बाधा पड़ती है। श्रीशाङ्कर-भाष्यमें प्रथमाध्यायके चतुर्थ पादके सप्तम अधिकरणमें ईश्वरके ईक्षा-पूर्वक कर्तृत्वका (ईश्वरकी केवल निमित्त कारणताका) निषेध किया है। ईश्वरको केवल उपादान कारणसे व्यतिरिक्त मानकर जगत्का कर्ता और रचयिता माननेमें जो जो अड़चनें और विरोध उपस्थित होते हैं, वहांपर वे सब समझाये गये हैं। जो ईश्वरको विश्व-प्रपंचका उपादान और निमित्त दोनों प्रकारका कारण माना जाय तो वैसा मानना शक्य है; और इस स्थलपर—यह वाह्य विश्व (जब कि यह कुछ है, तब) किसी भी कारणके बिना नहीं बन सकता—यह प्रतिपादन करनेके लिये और साथ ही यह भी, कि इसका उपादान कारण वैसे ही निमित्त कारण भी एक ही है, एवम् यह उभय कारण जो हैं, वही ईश्वर है, हम आगे ईश्वरके अस्तित्वकी सिद्धिके विचार दिखानेके लिये कुछ पंक्तिया लिख देते हैं।

(१५) यह जगत् अभावरूप नहीं है.

विश्व-प्रपञ्च कुछ भी नहीं है अर्थात् यह असत् है—ऐसा

नहीं कहा जा सकता, क्योंकि यह दृश्य है और द्रष्टा बनकर हम इसका भान कर रहे हैं। यह ठीक है कि यदि यह विश्व, इन्द्रियोंसे ज्ञात होनेपर ही अस्तित्वमें आता हो, तो हमें जब यह इन्द्रियोंसे ज्ञात हुआ, उससे पहले यह नहीं था, ऐसा मानना पड़े। किन्तु सो नहीं है, क्योंकि ज्ञातत्व और अस्तित्व दोनों परस्पर अभिन्न हैं। हां, वैश्विक अस्तित्व और व्यक्ति-विषयक ज्ञातत्व भी परस्पर अभिन्न हैं, यह नहीं कहा जा सकता। जब कि मैं इस विश्वका द्रष्टा हूं और यह दृश्य है, तब 'मैं' द्रष्टा और 'यह' दृश्य ये दोनों 'मैं' (मुझ) से, वैसे ही 'इस' दृश्यसे, भिन्न नहीं हैं, इस प्रकारका ज्ञान किसी अन्य ज्ञाताको बना हुआ है। इस रीतिसे जब विश्व-प्रपञ्चका अस्तित्व, व्यक्ति-विषयक 'मैं' से निरपेक्ष ज्ञात है, तब यह सत् भी है। किन्तु जो हम केवल इसे सत् ही कहें तो इसीसे ही नित्य सच्चिदानन्दकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करती हुई हमारी वृत्तिको परम सन्तोष मिलना चाहिये; किन्तु सो तो होता नहीं है। इसलिये हमें इस जगत्‌को असत् भी कहना पड़ता है, इस तरह यह जगत्, सत्, असत् उभयात्मक (दोनों भांतिका) है। किन्तु इससे यह नहीं कहा जा सकता कि यह शश-शृङ्गवत् है। जो आप अभावको किसी भावके रूपमें ले लें, तभी आप इस विश्वको अभाव-रूप कह सकते हैं। श्रीरामानुजाचार्य और श्रीशङ्कराचार्य्यके विरोधका मूल यदि ढूंढा जाय तो एक विश्वको भाव-रूप कहते हैं और दूसरे उसे अभाव-रूप मानते हैं। इस विषयमें एक दार्शनिककी सम्मति है कि

इन दोनों आचार्य्यों में भावरूप कहनेवाले आचार्य तो अभावको अभावरूप ही मानते हैं किन्तु इस जगत्को अभावरूप कहनेवाले आचार्य एक प्रकारसे अभावको भाव-रूप मान बैठे हैं, यह विचित्रता है। यह बात अलग है कि अभावको भाव-रूप कैसे कहा जा सकता है ? किन्तु अभावको जब भाव-रूप माननेमें आये और वैसा मानकर विश्वको भाव-रूप कहना पड़े तो वैसे कहनेसे यह विश्व (दोषारोपकके शब्दोंमें) शश-शृङ्गवत् नहीं हो सकता। इस भांति जब कि यह विश्व, कुछ न कुछ अवश्य है, तब इसका कारण क्या है ? यह किस तरह बना ? इत्यादि जाननेकी अपेक्षा बनी रहती है।

(१६) इस सृष्टिके नियमोंका विचार करनेसे इसके कर्त्ताका भान हो जाता है.

दृष्टके सहारेसे ही अदृष्टका अनुमान किया जाता है—यह एक पुराना न्याय है, इसके अनुसार जब हम दृष्ट सृष्टिका अवलोकन करते हैं, तब जिन नियमोंसे यह चल रही है, उन्हें खोजना पड़ता है। बीजमेंसे वृक्ष उत्पन्न होता हुआ देखनेमें आता है और घर (मकान) बनानेवाला जिस तरह उसके लिये सामग्री जुटाता है एवम् जिस प्रकारका वह मकान तैयार करता है, उसकी योजना अपने मनमें पहले हीसे कर लेता है, उस तरह सेन्द्रिय पदार्थों में देखनेमें नहीं आता। [illegible]न्द्रिय पदार्थोंमें जो कोई भी कर्ता अथवा रचयिता है औ[illegible] वह जिन द्रव्योंसे बना है,

उनसे वह पृथक् प्रतीत नहीं होता। अपनेआपको अमुक रूपमें ले आना—इस प्रकारका विचार किम्वा योजना मानो उसके प्रत्येक अङ्गमें पहले हीसे बनी हुई थी—बार बार विचार करनेपर यही मानना पड़ता है। जिन सूक्ष्म परमाणुओं (प्रथम रूपों) अथवा येशियोंसे वह बना है, उनमें कोई अन्तर्गत व्यापक शक्ति रहती हुई प्रतीत होती है। वह व्यापक शक्ति, केवल यान्त्रिक नहीं है, किन्तु उसमें इस प्रकारकी योजनाका विचार वर्तमान है कि—'मुझे अमुक प्रकारका सम्पूर्ण अखण्डत्व प्रकट करना है'। आदिसे अन्त तक वह अपनेको आप ही निर्माण करता है, आप ही नाना रूप बनता है और आप ही यथोचित आविर्भूत होता है। युरोपके जड़-वादी दार्शनिक डार्विन्का भी यद्यपि यह सिद्धान्त है कि इस स्वाभाविक सृष्टिका मूल यह है—"स्वयम् अपना विचार और स्वतः अपनी उत्पत्ति"। किन्तु यह सिद्धान्त—चेतन-शक्तिके सम्बन्धमें तथ्य होनेपर भी उसके इस सिद्धान्तको हम नहीं मान सकते कि "सेन्द्रिय पदार्थोंके सूक्ष्मतम भाग (प्रथम रूप) जिन परमाणुओंसे बने हैं, वे परमाणु—अमुकरूप और प्रमाणमें ही एकत्रित हो मिले हैं तथा केवल यान्त्रिक अथवा रासायनिक शक्तिके व्यापारसे यह सब काण्ड हो जाता है"। क्योंकि यदि ऐसा माने तो 'प्रथम रूप' में जो जीवन-व्यापार—अर्थात् आप ही अपने पोषण, वर्धन और उत्पादन करनेकी क्रिया—देखनेमें आती है, उसकी उपपत्ति किसी प्रकार भी नहीं समझायी जा सकती। यह सच है कि जीवनकी रक्षाके लिये जगत्‌में

जो मारकाट या सङ्घर्ष हो रहा है, उसमें जो योग्यतम होगा वही बच सकेगा। किन्तु यह नियम ऐसा नहीं है कि सेन्द्रिय पदार्थोंका अस्तित्व-अनस्तित्व केवल इसीके शरणापन्न हो, सेन्द्रिय पदार्थ किसी ज्ञान-शून्य जड़ वस्तुकी तरह इस नियमके पीछे नहीं चलते हैं किन्तु वे इस नियमको अपने ढङ्गपर लाकर इससे लाभ उठाते हैं। वे स्वयम् सोच-विचारकर अपने अभीष्ट और संरक्षणके लिये अपनेको योग्यतम बनानेकी चेष्टा करते हैं, यह विचारक शक्ति, केवल यान्त्रिक अथवा रासायनिक शक्ति जैसी नहीं है, किन्तु वह इनकी अपेक्षा बहुत ही विलक्षण—उच्च प्रकारकी शक्ति है। हम पहले कह चुके हैं कि इन सब भिन्न भिन्न 'मैं' शक्तियोंकी अधिकरण, जो **एक केवल नित्य 'मैं'** शक्ति है, उसीके आधारपर और उसीको लक्ष्य बनाकर ये सब शक्तियां अपना अपना कार्य कर रही हैं, यह जान लेनेपर कि सृष्टिका उपादान और निमित्त कारण एक ही है—इस सिद्धान्तके समझ लेनेमें कुछ कठिनता नहीं पड़ती है। श्रीरामानुजाचार्यके इस सिद्धान्तकी ओर देखते हुए कि 'दृश्य प्रपञ्च और ईश्वरके बीच कुण्डल और कनक जैसा सम्बन्ध है तथा ईश्वर और जीवके बीच सूत्र (धागे) और मणियों जैसा सम्बन्ध है'—यह पूर्वोक्त विचार और भी स्पष्ट हो जाता है। एवम् ज्ञातत्व और अस्तित्व समानाधिकरण हैं—यह जान लेनेपर ये तीन तत्त्व, जो पहले भिन्न भिन्न मालूम होते हैं, वे परस्पर अभिन्न हो जाते हैं और अन्तमें केवल **एक अद्वैत** शेष रह जाता है। किन्तु इस सम्बन्धमें

इस स्थलपर अधिक कहनेका अवसर नहीं है।

अबतक जो कुछ लिखा गया है, उनका सार यह है:—

(१) स्वयम्-वेदन (चेतन), जड़ परमाणुओंका परिणाम नहीं है, किन्तु वह जड़ परमाणुओंसे निरपेक्ष है।

(२) व्यक्ति-विषयक स्वयं-वेदन (जीवात्मा) के अधिकरण-रूपसे रहनेवाले किसी **केवल समष्टि-विषयक स्वयं-वेदन** (परमात्मा) के अस्तित्वको अवश्य मानना पड़ता है।

(३) परिमित स्वयं-वेदनको अपरिमित स्वयं-वेदनका भान है और उसकी प्राप्तिके लिये—अपने आपको वैसा बनानेके लिये वह प्रयत्न करता है।

(४) अपरिमित स्वयं-वेदन (परमात्मा) की प्राप्ति ही धर्मका फल है, और उसकी प्राप्तिका साधन है, धर्माचरण।

ऊपर दिखाये गये सिद्धान्तोंसे धर्म और उसके फलके स्वरूपका निश्चय तो हो जाता है। किन्तु साथ ही कई प्रश्न उपस्थित होते हैं और वे ये हैं कि जब मनुष्य में प्रयत्न करनेकी वृत्ति स्वाभाविक है और प्रयत्न किसी अभीष्ट वस्तुके लिये ही किया जाता है, एवम् धर्म, स्वभावसे ही सबके लिये अभीष्ट है, तब क्या कारण है कि जगत्में सब मनुष्योंकी प्रवृत्ति; धर्मकी ओर नहीं होती ? सर्वत्र ही इसका प्रायः अभाव देखनेमें आता है। ऐसा होनेका कारण क्या है ? मनुष्यमें ऐसी कौनसी वस्तु है, जो इसे धर्म्माचरणसे दूर रखना चाहती है ? और धर्म्माचरणका व्यवहारिक स्वरूप क्या है ?—इन

प्रश्नोंके समाधानके [illegible]यों में भी इनकी प्रबलता देखनेमें आती है,
जाते हैं। [illegible]ट करनेके लिये अन्तरमें एक प्रेरणा बनी रहती
(१७) मनुष्य[illegible]न्तोषसे एक प्रकारका सुखानुभव होता है; और
अपने स्वाभाविक रूपमें निन्द्य अथवा अनिन्द्य कुछ
कोई भी यह नहीं कह सकता कि सहज वृत्तियोंसे
मनुष्य-स्व[illegible]ाननेवाला मनुष्य पशु-तुल्य है किम्वा वह नीच है।
दिखायी दे[illegible]तु नीचे गिरेगी, पानी ढलानमें जायगा, धूआं और
निद्रा, भय, म[illegible]ायुकी ओर उड़ेंगे इत्यादि नियम जैसे स्वाभाविक हैं,
तथा उनका [illegible] सहज वृत्तियोंका अपने अपने विषयको पाकर सन्तोष
समान ही स[illegible]भी नैसर्गिक नियम है। किन्तु यही स्वाभाविक वृत्तियाँ
रहता है, उस[illegible] मनुष्यके साथ सम्बन्ध होते ही अपने सहज शुद्ध
दूसरा तत्त्व [illegible] छोड़ बैठती हैं। क्षुद्र प्राणियोंमें स्वाभाविक वृत्तियोंका
क्योंकि इ[illegible] होते ही वे उनके विषयकी प्राप्तिके लिये प्रयत्न करते हैं,
अति[illegible] विषयको पा कर, वे सहज वृत्तियाँ सन्तुष्ट हो, मानो निवृत्त
उच्चतमत[illegible]ी हैं ऐसी हो जाती हैं। गायको भूख लगते ही वह
स्थितिमें ले ओर दौड़ती है, पर पेट भरपूर होते ही वह सन्तुष्ट हो
प्रयत्न करता किन्तु मनुष्यकी सहज वृत्तियां इससे विलक्षण ढङ्गमें
आदि वृत्तियो[illegible]हैं। यहां उनकी स्थितिका समय, केवल विषयकी
भिन्न रूपमें समझ[illegible] रहकर बढ़ता ही रहता है। मुझे जैसे मेरा
कल्पना है, उसकी [illegible]च्छिन्न रूपमें रहता है, उसी तरह ये वृत्तियाँ मेरी
लगते हैं। मनुष्यमें[illegible]वृत्तियोंसे अभिन्न हूं-ऐसा भान भी अविच्छिन्न
करने वाला है और[illegible]। मेरी स्वाभाविक आहार-वृत्तिको उसकी

शान्तिके लिये चाहे जितना विषय क्यों न मिल जाय, फिर भी वह सन्तुष्ट नहीं होगी। क्योंकि उसमें मैंने अपने नित्यत्वका आरोप किया है, उसके लिये उसके असन्तोषमें भी एक प्रकारका कृत्रिम नित्यत्व आया हुआ होता है। और मुझे जबतक यह ज्ञान न हो जाय कि यह नित्यत्व बनावटी है, तबतक चाहे मेरा पेट भरा हुआ हो तोभी आहार-प्राप्तिके लिये मेरा प्रयत्न शान्त नहीं होगा। इसी तरह जब मेरा मन, धन-संग्रह करनेके लिये चञ्चल होता है, तब चाहे लोक-निन्दा हो, शरीरको हानि पहुंचे और तात्कालिक दुःख आ पड़ें, तो भी धन-संग्रह करनेवाली वृत्तिकी प्रेरणासे मैं उन सबकी उपेक्षा कर देता हूं। देखनेमें तो लोभ भी आहार-प्राप्त करनेवाली स्वाभाविक वृत्तिका एक परिणाम है, तो भी सहज वृत्ति जैसी निर्दोषता उसमें नहीं है, वह स्वयम् दोष-रूप है। इसी भांति क्रोध, मोह, मत्सर, व्यभि-चार आदि जो जो दोष, मनुष्यमें देख पड़ते हैं, वे इन सहज वृत्तियोंके, मनुष्यके सविचारत्वके लिये ही—मनुष्यके (मैं पूर्वापर एक नित्य हूं)—इस प्रकारके मानके लियेही, होनेवाले परिणाम विशेष हैं। इसी बातको संक्षेपमें यों भी कह सकते हैं कि जिसके लिये मनुष्य धार्मिक बननेमें समर्थ और योग्य है उसीके लिये यह अधार्मिक बन जाता है।

अब आप समझ गये होंगे कि मनुष्य प्राणीमें सहज वृत्तियाँ दोष रूप परिणाम पर पहुंच जाया करती हैं, तब वे और मनुष्य-की सविचारता चाहे जितनी भी बलवान् क्यों न हो जाय, किन्तु

ऐसी अवस्थामें सविचारत्वकी विजय होनी दुर्घट है। यद्यपि सविचारत्व और विषय-वासना—(धर्म-वृत्ति और अधर्म-वृत्ति) ये दोनों प्रकाश और अन्धकारकी तरह परस्पर विलक्षण हैं। तो भी मैं, (मैं उनका द्रष्टा हूं—ऐसे भानके विनाका द्रष्टा) अपने आपको उन दोनोंके साथ एक और अभिन्न समझता हूं। सविचारत्व मुझे विषय-वासनाकी निर्माल्यता दिखाता है, पर मैं जो कि विषय-वासनासे अपने आपको अभिन्न समझता हूं, उसे अपनी ही निर्माल्यता मान बैठता हूं। योग-दर्शनका सिद्धान्त है कि मैं 'पुरुष' तो कमल-पत्र की तरह निर्लेप हूं, किन्तु सत्त्वका परिणाम जो बुद्धि है, वह तापक रजस् (राग आदि) से तप उठती है और तमस् (अज्ञान) से मैं अपने आपको बुद्धिसे अभिन्न समझ बैठता हूं, इससे मुझे ऐसा अनुभव होने लगता है कि मानों मैं स्वयम् सन्तप्त हो रहा हूं।

अब विचारणीय यह है कि इस सविचारत्व और इन्द्रिय-सुख भोगनेवाली वृत्तिका यह निरन्तर चलता हुआ कलह किस रीतिसे शान्त हो। उक्त कलह—जो कि क्लेश आदिका मूल है, वह योग-शास्त्रके शब्दोंमें कहिये तो अभ्यास, वैराग्य और ईश्वर-प्रणिधानसे समूल नष्ट हो जाता है और व्यावहारिक शब्दोंमें कहिये तो अहिंसा, सत्य, धृति, दया आदि लौकिक नीति और अपरिमित सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् परमेश्वरके उद्देश्यसे परिमितकी सीमाका अतिक्रमण, अथवा दूसरे शब्दोंमें कहिये तो अपने आपको जिसके स्वरूपका अस्फुट किन्तु वास्तविक ज्ञान है, उस-

की प्राप्ति—मैं आप उससे अभिन्न हूं, इस बातका अनुभव ही इस कलहको शान्त कर सकता है। इसके लिये भिन्न भिन्न समयमें महापुरुषोंने—धर्म-शिक्षकोंने—आचार्यों ने अनेक उपायोंका निरूपण किया है। अति पुरातन-कालसे महात्मा पुरुष किसी गुप्त-बलकी प्रेरणासे इस सम्बन्धमें बराबर विचार करते आये हैं। दुःख मात्रकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति, ज़ो कि मनुष्यको सदा सर्वथा अभीष्ट है, उसके उपायोंके बोधनके लिये अनेक ग्रन्थ लिखे गये। इन्हींका नाम दर्शन-शास्त्र है और येही धर्म-सम्प्रदायोंके अवलम्बन हैं, इसलिये इनका तात्त्विक और शास्त्रीय रीतिसे अनुशीलन करना अत्यन्त आवश्यक है। इस विषयमें आगे उपक्रमणिकामें बहुत कुछ लिखा गया है, अतः यहां विशेष विवेचन अनावश्यक है।

(१८) वेदोंके मन्त्र-भागमें 'दर्शन'।

भारतवर्षके साहित्यके इतिहासमें अनेक मत, विश्वास और विधानोंके आविर्भाव, विकाश, सृष्टि, स्थिति, प्रलय, उत्थान, पतन तथा पुनरुत्थनोंकी भर-मार है। इसलिये दर्शन-शास्त्र किम्वा उसके भिन्न भिन्न मत पहले पहल कब उत्पन्न हुए और कब चले, यह बतलाना अशक्य ही नहीं, प्रत्युत एक प्रकार असम्भव है। तथापि आर्य्य-मात्रके चित्तमें ऐसा विश्वास है कि ये मत सदासे चले आते हैं। वे समझते आये हैं कि जबसे सभ्यता, विद्या अथवा सज्ञानजन-समुदायका आरम्भ है, तभीसे दर्शन-शास्त्रका भी आरम्भ है। यह कथन, युक्ति-युक्त

नहीं है कि उपनिषत्-कालमें हो किम्वा पौराणिक कालके बाद पौराणिक कथाओंसे असन्तोष होनेसे दर्शन-शास्त्रकी उत्पत्ति हुई है, ऐसा अनुमान इतर देशोंके लिये उचित होने पर भी भारत-वर्षके लिये अनुचित है। क्योंकि वेद और उपनिषदोंमें किसी न किसी रूपमें सब तरहके दार्शनिक सिद्धान्तोंका अस्तित्व मिलता है। यहां तक कि ऋक्वेदमें ऐसे बहुतसे सूक्त मिलते हैं कि जिनमें अत्युत्तम कोटिकी दार्शनिक-चिन्ताके बीज छिपे हुए हैं। वहां पर जगत् की सृष्टिके प्रारम्भ विषयके प्रश्न हैं, जो असली दार्शनिक विचारोंके मूल हैं। ऋक्-संहिताके पिछले अध्यायमें तथा कई एक स्थानों पर दूसरे वेदोंमें भी ऐसे बहुतेरे सूक्त; दार्शनिक विषयके हैं कि जिनसे पदार्थोंके मूल-कारण-निदर्शक विचारोंके ऊपर बड़ी गम्भीरता और सघनता सूचित होती है। और उससे यह आवश्यक अनुमान होता है कि पूर्व समयमें आर्य्य-दर्शन-शास्त्रकी जिस सहस्रधारा गङ्गाने हमको पवित्र कर दिया, उसके उद्भव-स्थान किम्वा गङ्गोत्री-रूप, ये ही सूक्त हैं। यही कारण है कि जितने आस्तिक दर्शन हैं, सबके सब वेदका प्रमाण मान कर अपना मत स्थापन करते हैं, केवल इतना ही नहीं किन्तु अवैदिक दर्शनोंके शिरोमणि बौद्ध-दर्शनका शून्यवाद भी "असदेव सौम्य इदमग्र आसीत्" इस उपनिषद्-वाक्यके आधार पर प्रतिष्ठित हुआ जान पड़ता है। इसलिये युरोपके पण्डितोंका यह कहना ठीक ही है कि "गौतम बुद्ध, ब्राह्मण ग्रन्थोंका बड़ा ऋणी है"।

(१९) भारतवर्षमें ही सबसे पहले दर्शन-शास्त्रकी उत्पत्ति हुई.

संसारमें दर्शन-शास्त्र की उत्पत्तिका प्रथम स्थान इस पृथ्वी पर यह भारतवर्ष ही है। इस देशमें केवल छै दर्शन ही उत्पन्न हुए हों, सो नहीं है। संसारमें जितने दार्शनिक मूलमत हैं, या हो सकते हैं, सभी पहले पहल इस देशमें पैदा हुए थे। यह अतिशयोक्ति नहीं है, क्योंकि भारत भूमिकी नैसर्गिक स्थिति पर जब हम विचार करते हैं, तब यही समझ पड़ता है कि जो धर्म-सम्बन्धी विचार इस भूमिमें हुए हैं, वे सामान्य रूपसे सभी जन-समूहोंके धर्म्म-विचारोंके प्रतिरूपक हैं। भारतवर्षकी रसाल भूमि, भव्य पर्वत, विशाल नदियां, हृदयको शान्त करनेवाली वन-स्थली, जीवन वृत्तिके लिये उपयोगी सारे साधनोंसे परिपूर्ण उपवन-समान नदियोंके तट, शान्त प्रकृति और सुखसाध्य वृत्ति यह सब योग ऐसे हैं कि जिनसे यहांके मनुष्योंकी सब शक्तियोंका मानसिक और आध्यात्मिक सुखकी प्राप्तिके लिये उपयुक्त होना, स्वाभाविक ही है। इसके सिवा एक विशेषता यहां और है। जब कि दूसरे देशोंमें नये नये विचार और सिद्धान्तोंकी विप्लवकारक बाढ़से पुरातन धर्म-मत सर्वथा नष्टप्राय किम्बा उथल पुथल हो गये हैं, तब भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है, जहां विकार और विप्लवके सब हेतुओंके होते हुए भी पुरातन सिद्धान्त अपने अस्तित्वको ज्योंका त्यों बनाये हुए हैं। इतना ही नहीं, किन्तु इन सिद्धान्तोंके स्पष्टीकरण और पुष्टिके लिये अनेक और भिन्न भिन्न शैलीके ग्रंथ ऊपरातथी बनते चले

आये हैं। इसका फल यह हुआ कि प्राचीन दर्शनोंके मूल-बीजों-का निर्वाध रूपसे निरन्तर बढ़ता हुआ प्रवाह आजतक भी भारत-वसुन्धरा पर बना हुआ है। पुस्तकके आरम्भमें जो चित्र है, पाठक उसे ध्यान पूर्वक देखें। यह चित्र केवल कल्पना-प्रसूत ही नहीं है, किन्तु इतिहास-मूलक भी है।

(२०) उपनिषदोंमें 'दर्शन'

भारतवर्षकी दर्शन-शास्त्र-गङ्गाका उत्पत्ति स्थान है, मन्त्र-संहिता-रूप पर्वत-माला। ब्राह्मण-भाग-रूप शिखरोंसे बहती बहती जब वह आरण्यक—उपनिषदोंको गम्भीर कन्दराओंमें पहुंचती है, तब वहां पर, उसका वेग बड़ा प्रवल और अति-विस्तृत हो गया है। उसके कलकल नादसे दशों दिशाएं गूंजी और उसके पावन-जलने उसके सारे किनारे तर कर दिये। दर्शन-शास्त्र-गंगाके उस वर्द्धमान प्रवाहका विशद और मनोहर स्वरूप प्रत्येक आरण्यक और उपनिषद्-भागमें वर्णित है, किन्तु यह असम्भव है कि उसकी क्रमिक वृद्धिका स्वरूप, ठीक दर्शन-शास्त्रकी रीतिसे दिखाया जासके। क्योंकि ब्राह्मण-ग्रन्थ और सम्पूर्ण उपनिषदोंके गहरे अनुशीलनकी इसमें अपेक्षा है। जब तक ऐसा न हो, अर्थात् ब्राह्मण और उपनि-षदोंका पूर्ण अभ्यास न किया जाय, तबतक ऐसा होना अस-म्भव है, किन्तु उसके लिये यहां अवकाश नहीं है।

(२१) सूत्र-ग्रन्थोंमें 'दर्शन'

दर्शन-शास्त्रकी गंगा आगे आगे बहती ही चली गयी।

समय पाकर उसमें धारा- भेद हो गया। जहां एक धारा थी, वहां अनेक धाराएं हो गयीं। सब धाराएं अलग अलग दिशाओंमें बह निकलीं। भिन्न भिन्न प्रकृतिके संसर्गसे उनकी प्रकृति भी विभिन्न प्रकारकी हो गयीं। बहुत समय पीछे उन्हींमें से दो एक धाराओंके नाम बौद्ध और जैन-दर्शन हो गये। अन्यथा न तो बौद्ध—दर्शन अचानक आकाशमें से गिरा है और न जैन—दर्शन ही समुद्रके तरंगोंमें से उछल पड़ा है। इन अनेक धाराओंमेंसे वेदानुयायी होनेसे प्रधान धाराओंने— जिनका नाम 'षड्-दर्शन' है, बहुत सन्मान और प्रचार पाया। इन सब न्यारे न्यारे दार्शनिक मतोंका अलग अलग समयमें भिन्न भिन्न आचार्य्यों की गुरु-शिष्य-परम्परामें कितनी ही सदियों तक, अनुशीलन होता रहा है। जिस जिस ऋषिकी सम्प्रदायमें जिस जिस मतका अधिक विचार हुआ, वह वह दार्शनिक सिद्धान्त उसी उसीके नाम से विख्यात हो गया। बहुत समय तक दर्शन—शास्त्रके विशेष विषयोंका वर्णन बड़े विस्तारसे होता रहा। जिसके चिन्ह महाभारत पुराण आदि स्मृति-ग्रन्थोंमें मिलते हैं। विस्तृत विषयको धारण करनेमें स्मृति पर असह्य भार न पड़े—इस इच्छासे, अन्तमें, दर्शन-शास्त्र-की रचना परिपाटी संक्षेपमें बदलनेकी आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उस समयके सब आचार्य्यों ने अपने अपने सिद्धान्तोंकी अनुक्रमणिका सूत्र-रूपमें बनायीं। इसलिये दर्शन-शास्त्रके जो सूत्र-ग्रन्थ हमें इस समय मिलते हैं, वे अनेक दार्शनिक सम्प्रदा-

योंके मतोंके मूल नहीं कहे जा सकते, किन्तु वे, प्राचीन ऋषियोंकी ग्रन्थ-परम्परा, जो उत्तरोत्तर वृद्धिको प्राप्त हुई थी, उसीके स्पष्ट रूपसे श्रृङ्खला-बद्ध और संक्षिप्त पुनः कथन हैं। जितने दर्शन इस समय मिलते हैं और जो दर्शन नष्ट हो गये, एक समय उन सबके आधारभूत सूत्र-ग्रन्थ थे। यहां तक कि चार्वाक-दर्शनके बृहस्पति-सूत्रोंकी भी सूचना मिलती है। जिन दर्शनोंके सूत्र-ग्रन्थ अलभ्य थे, उनके भी मिलने लगे हैं। शाक्त-दर्शनके आधारभूत अगस्त्य-सूत्र अभी मिले हैं। हमारे श्रीगुरुदेव काशी-वासी स्वर्गीय महामहोपाध्याय पण्डित राममिश्र शास्त्रीजीकी सम्मति थी कि "इस देशमें दर्शन-शास्त्र और उपासना-सम्प्रदायका अटूट सम्बन्ध रहता आया है। कोई ऐसा दर्शन नहीं था कि जिसके साथ कोई उपासक-सम्प्रदाय न हो और न कोई ऐसी उपासक-सम्प्रदाय ही थी कि जिसका अवलम्बन-स्वरूप कोई दर्शन न हो। काल पाकर कुछ सम्प्रदायोंके दर्शन लुप्त हो गये और कुछ दर्शनोंकी सम्प्रदायें। जैसे गणेश और सूर्य आदि उपासक-सम्प्रदायोंके दर्शन नहीं मिलते हैं, और न्याय और वैशेषिक आदि दर्शनोंकी सम्प्रदायें"। अस्तु। प्रसंग-क्रमसे हम यह भी कह देना आवश्यक समझते हैं कि जिनके नामसे दर्शनके सूत्र-ग्रन्थ मिलते हैं, केवल इतने ही दर्शनाचार्य हमारे यहां नहीं हुए हैं, किन्तु कुछ ऐसे भी दर्शन-प्रवर्तक ऋषि हुए हैं कि जिनके नामसे कोई सूत्र-ग्रन्थ तो प्रच-लित नहीं है, पर वे उपनिषत्-सम्प्रदायके प्रधानाचार्य हैं। जैसे

मुण्डक, माण्डूक्य, ऐतरेय, श्वेताश्वतर, कठ, मैत्रायण, शाकल्य, जाबाल, आरुण, भाल्लवि, कौषितकि, भृगु आदि ऋषि। बहुत-सी उपनिषदें इन्हींके नामसे प्रसिद्ध हैं। इसी तरह याज्ञवल्क्य आदि कुछ ऐसे भी दर्शनाचार्य ऋषि हैं कि जिनके नामसे कोई उपनिषद् या सूत्र-ग्रन्थ तो प्रसिद्ध नहीं है, परन्तु उपनिषदोंमें वे तत्व दर्शीके स्वरूपसे कथित हुए हैं। सांख्य आदि षड्-दर्शनके सूत्र-ग्रन्थोंमें पञ्चशिख, आसुरि, सनन्दन, आश्मरथ्य, आश्वलायन, वादरि, कार्ष्णाजिनि, काशकृत्स्न, आत्रेय आदिके तथा शाक्त-दर्शनके अगस्त्य-सूत्रोंमें हयानन, पैप्पलायन, पराशर, वसिष्ठ, शुक, तित्तिरि, मारीच आदि ऋषियोंके मत उद्धृत किये गये हैं। सम्भव है कि किसी समय इनके सिद्धान्तोंके प्रतिपादक दर्शन-ग्रन्थ भी थे, जो कि अपने निर्माताओंके अमर नामके सिवा अब अपना कोई चिन्ह शेष नहीं रखते। यही दशा बौधायन, औडुलौमि आदि-रचित वृत्ति-ग्रन्थोंकी हुई है। चाहे जो हो, पर दर्शन-शास्त्रके प्रवर्तक उन्नायक तथा प्रचारक इन ऋषियोंकी बृहत् सूचीसे भारतीय-दर्शन-शास्त्रकी विशालताका अनुमान सहज हीमें हो जाता है।

(२२) *बौद्ध-कालमें 'दर्शन'* ।

अबसे पहले दर्शन-शास्त्रके उसी अंशका वर्णन हुआ है, जिसे आर्ष कहते हैं—अर्थात् जिसका केवल ऋषि-युगमें निर्माण हुआ। इसके बाद दर्शन-शास्त्रने एक नवीन स्वर्ण-युगमें प्रवेश किया, हमारा अभिप्राय बौद्ध-दर्शन और जैन-दर्शनके अभ्युदय समयसे

है। ऋषि-युगमें भी स्वमत-स्थापनके साथ परमतोंकी परीक्षा की जाती थी, परन्तु इस समयमें आर्य-दर्शनके साथ बौद्ध और जैन-सिद्धान्तोंकी टक्कर होनेसे तत्त्व-विद्याके सम्बन्धमें गम्भीरसे गम्भीर और उन्नतसे उन्नत विचार बड़े विस्तारके साथ प्रकट किये गये। इस समय आर्य-दर्शनके व्याख्याकार ईश्वरकृष्ण, गौडपादाचार्य, प्रशस्तपादाचार्य, शबरस्वामी, पक्षिलस्वामी उपवर्ष, कुमारिल भट्ट, प्रभाकर, उद्योतकर, द्रविडाचार्य, शंकराचार्य रामानुजाचार्य, वाचस्पति मिश्र, उदयनाचार्य, अभिनवगुप्त, नील-कण्ठ, भर्तृप्रपञ्च आदि, तथा बौद्ध-जैन-सम्प्रदायमें माध्यमिक दर्शनके परमाचार्य नागार्जुन, प्रमाण-समुच्चय-कर्ता उत्कल-विजयी सुबन्धु तर्क-पुंगव, सुप्रसिद्ध नागदत्त, प्रज्ञापारमिताके वृत्तिकार चन्द्रकीर्ति, बोधिचर्य्यावतारके व्याख्याता शान्तिप्रभ और जैनाचार्य हेमचन्द्र प्रभृति ऐसे गम्भीर चिन्ताशील देश-पावन दार्शनिक हुए हैं कि जिनके लिये कोई भी जाति अभिमान कर सकती है। व्याख्या-ग्रन्थोंका अति विस्तार होनेपर भी उस समय मूल-ग्रन्थोंका पठन पाठन पूर्ववत् चलता था। श्रीशं-कराचार्य, कुमारिल भट्ट, वाचस्पति मिश्र आदिके भाष्य-ग्रन्थोंकी भाषा इतनी प्रसाद-गुण-विशिष्ट और उन्नत शैलीकी है कि उसे हम संस्कृत भाषाकी चरमोन्नतिका नमूना कह सकते हैं। कौन बड़ी बात है, यदि दण्डी और श्रीहर्षने अपने रसमय काव्योंमें मुहाविरेदार प्रांजल भाषाका प्रयोग किया है, किन्तु नमस्कार करते हैं हम इन कवि दार्शनिकोंको कि जिनकी मधुमयी भाषाने

दर्शन-शास्त्रके शुष्क विषयको भी काव्यकी भांति रमणीय और सरस कर दिया। उस समय षड्-दर्शनसे भिन्न बहुतसे दर्शनोंका केवल अस्तित्व ही नहीं था, किन्तु बड़ी धूमधामसे उनका अध्ययन अध्यापन भी होता था। श्रीशंकराचार्य स्वामीका जिन मत-वादियोंसे शास्त्रार्थ हुआ, उनमेंसे अनेकांशके अपनी अपनी सम्प्रदाय—परिपोषक स्वतन्त्र दर्शन-ग्रन्थ थे। विक्रमादित्यकी आठवीं सदीमें कविवर बाणभट्टने अपने श्रीहर्ष-चरित काव्यमें बौद्ध-यति दिवाकरमित्रके तदानीन्तन विश्व-विद्यालय-रूप आश्रमका जो मनोहर चित्र अङ्कित किया है, उसमें भी हमें नाना दिग्देशके छात्र, अनेकानेक दर्शनोंका परिशीलन करते हुए दिखलायी देते हैं।*

(२३) मुसलमानी शासन-कालमें 'दर्शन'.

इसके बाद मुसलमान बादशाहोंके उपद्रव-संकुल शासन-कालमें फिर एक आध बार दर्शन-शास्त्रकी उन्नतिका अन्तिम दौरा आया। इस समय दक्षिण भारतमें कर्म-मीमांसा और वेदान्त-दर्शन पर तथा मिथिला, विशेषकर बंग देशमें न्याय,

---

* अथ तेषाम् तरूणाम् मध्ये नानादेशीयैः स्थान-स्थानेषु ००० तरुमूलानि निषेवमाणैर् वीतरागै रार्हतैर्मस्करिभिः श्वेतपटैः पाण्डुरि-भिक्षुभि— र्भागवतै र्वर्णिभिः केशलुञ्चनैः कापिलै र्जैनै र्लौकायतिकैः काणादै रौपनिषदै रैश्वरकारणिकैः कारन्धमिभि र्धर्मशास्त्रिभिः पौराणिकैः साप्ततन्तवैः शाब्दैः पाञ्चरात्रिकै रन्यैश्च स्वान् स्वान् सिद्धान्तान् शृण्वद्भिः उपास्यमानं मध्ये वयसि वर्तमानं दिवाकरमित्रमद्राक्षीत्।

(श्रीहर्षचरित, अष्टम उच्छ्वास)

वैशेषिक दर्शनपर बहुत ग्रन्थ लिखे गये। यद्यपि नव्य न्याय अपने मूलदर्शनसे बहुत दूर चला गया है, किन्तु माधवाचार्य, गदाधर भट्टाचार्य, जगदीश तर्कालङ्कार, गौडब्रह्मानन्द, गंगेशोपाध्याय, अनिरुद्ध, बर्धमानोपाध्याय, रघुनाथशिरोमणि, मथुरानाथ तर्क-वागीश, विश्वनाथ न्याय-पञ्चानन, रामचन्द्र सिद्धान्त-वागीश, वासुदेव सार्वभौम, भवानन्द सिद्धान्त-वागीश, विज्ञानभिक्षु, पार्थसारथि मिश्र, बल्लभाचार्य, मध्वाचार्य, अनन्तभट्ट आदि धुरन्धर दार्शनिकोंने ऐसे अद्भुत ग्रन्थ निर्माण किये कि जिनकी उपमा वे अपने आप ही हैं। अनुमान छै सौ वर्ष हुए, जब कि मिथिलाके पण्डित-रत्न गङ्गेशोपाध्यायने चिन्तामणि नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थकी रचना की थी। इस ग्रन्थको उस समयकी पण्डित-मण्डलीने बहुत पसन्द किया। जिसका फल यह हुआ कि उसपर अनेक टीका-पुस्तकें लिखी गयीं। उनमें मिथिलाके जयदेवमिश्रकी 'आलोक' नामक टीका सबसे मनोहर है। चार सौ वर्ष पहले नवद्वीप-निवासी पण्डित-प्रधान रघुनाथ शिरोमणिने 'चिन्तामणि' ग्रन्थपर दीधिति नामक एक नवीन टीका लिखी। वह बहुत संक्षेपसे लिखी गयी है और उसमें गूढसे गूढ सारे भाव वर्णन कर दिये गये हैं। अच्छी तरह एकबार उसके मर्मको समझ लेनेपर फिर किसी दूसरे तर्क-शास्त्रको पढ़नेकी इच्छा नहीं रहती है। मालूम होता है कि दीधितिके समान तर्क-ग्रन्थ पहले भी कभी नहीं बना और आगे भी बननेकी सम्भावना नहीं है। रघुनाथ शिरोमणिकी टक्करके

कल्पना-निपुण अलौकिक-प्रतिभा—सम्पन्न, संक्षिप्त-लेखक ग्रन्थ-कर्ता इस देशमें बार बार नहीं होनेके। किन्तु यह टीका है बहुत कठिन, और उसमें मूल-ग्रन्थके सब अंशोंकी व्याख्या नहीं हुई है। इसलिये सर्व साधारण पण्डितोंमें उसका अधिक प्रचार नहीं हो सका। चिन्तामणि पर नदियाके मथुरानाथ तर्क-वागीशने जो टीका बनायी, जिसे सब लोग 'माथुरी' कहते हैं, उसमें मूल-ग्रन्थके समस्त अंशोंकी व्याख्या की गयी है और वह भी ऐसे अच्छे ढंगसे कि जिसमें कठिन स्थलोंकी सब गांठे खुल गयी हैं। इस टीकाका पठन-पाठनमें बहुत आदर हुआ। इसके अतिरिक्त दीधिति पर कृष्णदास सार्वभौम भट्टाचार्यने दीधिति-प्रसारणी नामसे और एक टीका निर्माण की। भवानन्द सिद्धान्त—वागीशने भी एक टीका बनायी। मथुरानाथ तर्क-वागीशने इस टीकापर भी टीका लिखी। किन्तु ये सब ग्रन्थ पढाईमें बहुत दिन तक चल नहीं सके। काशी और नवद्वीपकी पाठशालाओं और चतुष्पाठियोंमें जिन ग्रन्थोंका अधिक अध्ययन-अध्यापन रहा, वे, ये हैं—दीधिति पर जगदीश तर्कालङ्कार और गदाधर भट्टाचार्यकी दोनों टीकाएँ, सिद्धान्तमुक्तावली-समेत भाषा-परिच्छेद, जगदीश-कृत शब्द—शक्ति-प्रकाशिका, गदाधर-कृत विभक्ति-वादार्थ, उदयनाचार्यकृत परमात्म-निरूपण और कुसुमाञ्जलि एवम् हरिनाथ तर्काचार्य और रामभद्र सार्वभौम-कृत उसकी दोनों टीकाएं। इसके अतिरिक्त उदयनाचार्य-रचित खण्डन-खण्ड-खाद्य, जीवात्म-निरूपण और आत्म-तत्त्व-विवेक, रघुनाथ शिरो-

मणि-कृत उसकी 'विवृति' और गदाधर भट्टाचार्य-प्रणीत उसकी टीका (गदाधरी)। इन ग्रन्थोंके कुछ कुछ अंशोंका भी अनुशीलन होता रहा। यद्यपि बार बार बदलते हुए परदेशी शासकोंके अत्याचारसे इस समय संस्कृत-ग्रन्थोंकी हानि कुछ कम नहीं हुई, फिर भी इन प्रसिद्धि-प्राप्त ग्रन्थोंको छोड़कर नव्य न्याय पर इतने ग्रन्थ लिखे गये कि उनकी पूर्ण नामावली किसी बड़े से बड़े पुस्तक-प्रकाशक प्रेसके सूची-पत्रकी बराबरी कर सकती है इस समयमें शंकराचार्य और वैष्णव-सम्प्रदायोंमें वेदान्त-दर्शनकी एवम् काशी और नवद्वीप आदिमें न्याय वैशेषिक दर्शनकी भी खूब चर्चा रही, पर सांख्य-योग दर्शनकी चर्चा अपेक्षाकृत अल्प रही। यही कारण है कि उक्त दर्शनोंके ग्रन्थोंकी संख्या अङ्गुलियों पर ही समाप्त हो जाती है। दक्षिण भारतके हिन्दू-राज्योंके उन्नति-कालमें पूर्वमीमांसाकी ग्रन्थ-राशि बढ़ी, पर पेशवाओंके शासन-कालका अन्त होने पर उसके परिशीलन और प्रसारका भी एक प्रकार अन्त हो गया। यही दशा बीती दूसरे दूसरे कारणोंसे बौद्ध-जैन-दर्शन पर। जिसका परिणाम वर्तमान समयमें यह हो रहा है कि उनके मार्मिक ग्रन्थोंके पढ़ानेके लिये योग्य अध्यापकोंका टोटा पड़ गया है।

(२४) भारतवर्षमें दार्शनिकोंका मान.

सदेशमें दर्शन-शास्त्रका जो इतना अधिक विस्तार हुआ और परस्पर-विरोधी दार्शनिक मतोंकी प्रगति बराबर बढ़ती ही चली गयी, इसका एक प्रधान कारण यहांकी विचार-स्वतन्त्रता भी

है। यहां किसी आचार-निष्ठ विद्वान् पुरुषको केवल इस कारणसे दण्ड नहीं दिया गया कि उसके विचार तात्कालिक धर्मसे विरुद्ध हैं। इस सात्विक सभ्य देशके सारे इतिहासमें एक दो अपवादों-को छोड़कर अन्यान्य देशोंकी भांति ऐसा कोई दृष्टान्त नहीं मिलता कि आर्य जातिके किसी वैदिक राजाकी आज्ञासे स्वतन्त्र-विचार-प्रदर्शक कुछ पुस्तकें जला दी गयीं या प्रकारान्तरसे नष्ट कर दी गयीं, और न ऐसे ही दृष्टान्त मिलते हैं कि, मत-भेदके कारण मनुष्योंके समुदायके समुदाय जीते जी अग्निमें भस्म कर दिये, या उन्हें देश निकाले किम्वा प्राण-बधका दण्ड दिया गया हो। जो ऐसे एक आध दृष्टान्त हैं भी तो उनके कारण कुछ और ही हैं और वे कुछेक संकीर्ण-मना साम्प्रदायिकोंकी सीमाके अन्दर ही रहे हैं या वे स्वयम् कल्पना-मूलक हैं। नहीं तो यह कब सम्भव था कि, निरीश्वर सांख्य और केवल प्रत्यक्ष-वादी चार्वाक दर्शनका भी इस ईश्वर-वादी आस्तिक देशमें इतना समादर और टिकाव होता। यहांके तत्त्व-विद्या-प्रेमका सबसे बड़ा निदर्शन यह है कि, हिन्दुओंके चौबीस अवतारोंमेंसे आधे अवतार दर्शनाचार्य हैं। क्योंकि, नर-नारायण (१) हंस (२) नारद (३) व्यास (४) बुद्ध (५) ऋषभ (६) कपिल (७) दत्तात्रेय (८) मीन (९) सनत्कुमार (१०) हयग्रीव (११) धन्वन्तरि (१२) ये बारह अवतार केवल तत्त्व-विद्याके प्रचारके लिये ही हुए हैं। भिन्न देशी इसी बातको यों कह बैठते हैं कि, तत्त्व-विद्याके प्रचारने ही इन्हें अवतार बना दिखाया। यहांके

विचार-स्वातन्त्रय-प्रेमकी—धार्मिक उदारताकी, पराकाष्ठा उस समय होगयी, जब यहांकी अवतार-मालामें बुद्धदेव और ऋषभ देवके नामके मणिये भी सुमेरुके पासही बड़े चावसे पिरोये गये।

(२५) भारतवर्षके दार्शनिक कैसे थे ?

जैसा यहांका दर्शन-शास्त्र है, उसके प्रवर्तक और प्रचारक भी वैसे ही थे। उनका समस्त जीवन त्याग और संयमका कठोर जीवन है। वैशेषिक दर्शनके आचार्य्य कणाद ऋषिका नामही उनके सादे जीवन और आश्चर्य-जनक सन्तोषको बता देता है। यह बात केवल ऋषि-युगमें ही नहींथी, किन्तु दर्शन-शास्त्रके अर्वाचीन इतिहासमें भी हमें ऐसे ही अध्यापकोंके देव-दुर्लभ दर्शन मिलते हैं। उपनिषद्-वर्णित अजातशत्रु, जनक आदिके शान्तिमय राज्य-कालमें, रामायण और महाभारतके उत्तप्त समयमें, जिस तरह हम उन्हें गोदावरी और गंगाके पवित्र तटोंपर किम्वा दण्डकारण्य नैमिषारण्य आदिके प्रशान्त कोणोंमें किसी वृक्ष-श्रेणीके नीचे नूतन तत्त्वोंकी खोज करते हुए देखते हैं, उसी तरह उन्हें बौद्ध-काल अथवा उसके बाद भी तरु-तलमें अथवा किसी देवालयके पास पर्ण-कुटीरमें पुराने सिद्धान्तोंकी छान-बीन करते हुए पाते हैं। केवल शास्त्रालोचनमें ही उनका सारा जीवन व्यतीत होता था। बाल्य-कालसे लेकर वृद्धावस्थाके कफावरुद्ध अन्तिम श्वासों तक वे तत्त्व-विद्याके प्रचार और पुष्टि-साधनमें ही लगे रहते थे। अपने अवश्य पोषणीय परिवारके भरण-पोषणकी ओरसे बिलकुल उदासीन रह कर उन्होंने अपने हृदयके—प्राणके—सारे पर-

माणु, तत्व-विद्याकी आलोचनामें समर्पित कर दिये। इस समय-के पश्चिमी जड़-वादी दार्शनिकोंकी तरह उनके ग्रन्थ रजिष्टर्ड नहीं होते थे, न वे किसी प्रेस या पुस्तक-विक्रेतासे सौदा ठहरा कर अपनी पुस्तकके एक एक एडिशनमें रायलटीके नामसे लाख लाख रुपये कमालेते थे। और न वे लाखोंका प्राइज पालेने पर भी किसी निर्धन साहित्य-सेवी पर इसलिये नालिश ही होने देते थे कि उसने उनकी विश्व-प्रेम-प्रचारक गीति—पुस्तकका उन-की अनुमति या उनके प्रतिनिधिको कुछ टके दिये बिना अपनी भाषामें अनुवाद क्यों कर लिया! क्योंकि उनके सब काम परार्थ थे, वे त्यागकी मूर्ति थे। उनका त्याग कोरी बातोंमें ही नहीं था, उनकी प्रत्येक क्रियामें था। उस समयके 'एकान्ततो' निस्पृहाः, सन्तोष-सर्वस्व अध्यापक किसी अविद्य राजा-बाबू या मगधेश्वर दिल्लीश्वरके दरबारमें न जाकर शिष्य-समर्पित भिक्षाके कणोंसे ही अपना निर्वाह करलेते थे। क्योंकि 'आजन्म-अशिक्षित-शाठ्य' उन सरलता और विशुद्धताको मूर्त्तियोंको कूट-नीति-पूर्ण 'जना-कीर्ण' राजपत्तन, 'हुतवह-परीत गृह' दिखलायी पड़ते थे। कितने ही राजा-राणियोंकी कोलाहल-पूर्ण सवारी उनके आगे से निकल गयी, पर उनकी अन्तर्मुख वृत्तिने उन्हें यह भी पता नहीं लगने दिया कि इधरसे कौन आया और कौन चला गया। नित्य नवीन नवीन 'सुधर्मा सभाओं—ताज़ महलों—लाल किलों को बनते देख कर भी उन्हें कभी अपनी कुटियाके फूस बदलने-की चिन्ता तक नहीं हुई। उनके संयमका स्वरूप समझनेके लिये

एक अध्यापककी एक ही बात पर्य्याप्त है। कहते हैं कि चैतन्य महा-प्रभु, रघुनाथ शिरोमणि, रघुनन्दनभट्ट आदि प्रतापी शिष्योंके आचार्य नवद्वीप-निवासी वासुदेव सार्वभौम भट्टाचार्यने जब अपनी कन्याका विवाह अपने एक शिक्षा-स्नात शिष्यके साथ किया, तो उस समय उनके पास केवल सवा रुपया ही था और उसीसे विवाहके सब काम निपट गये! चार आनेकी चीनी और एक रुपयेके फलोंसे उन्होंने बरातियोंकी भांति अपनी शिष्य-मण्डली-की फल-पार्टी कर दी! ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण हैं। इसी त्याग और संयमके बलसे अनेक शासकोंके 'मयूरासनों, और स्वर्णासनोंके उखड़ते रहने पर भी उनका दर्भासन अविचल रहा। और इसीलिये उन्हें किसी "अहंकार-विमूढात्मा" के 'दरबारे आम' या कारोनेशनमें दौड़नेकी आवश्यकता नहीं पड़ी, प्रत्युत बादशाहों और सम्राटोंके ताज़ और मुकुट ही "विनीत-वेशेनप्रवेष्टिव्यानि तपोवनानि" शब्दके साथ उनके सामने, उनके आश्रमके फल-भार-विनम्र वृक्षोंकी भांति झुकते रहे। भारतीय दर्शन-शास्त्रकी आलोचनाके समय हमें उसके प्रचारकोंके इस लोक-हित-व्रत-दीक्षित चिरस्मरणीय निष्काम चित्रको कभी नहीं भूलना चाहिये।

(२६) विश्व-विद्यालयोंमें 'दर्शन'.

इस वर्तमान- कालने—जिसके कि परिवर्तन, एड्रियाटिक समुद्रके उत्ताल तरंगोंकी तरह दुर्निवारणीय हैं, हमारी शास्त्रा-लोचनाको भी पुरानी स्थितिमें टिकने नहीं दिया। हिन्दूराजाओं-

की ताद्वश सहायताके अभावसे, चाहे वृत्ति-कष्ट या रुचि-विकार-से अथवा वर्तमान समयके लिये उपयोगी न हो कर पुराने ढंगकी दार्शनिक आलोचना, वृद्ध पुरुषकी या प्रवाहके सम्मुख तैरनेवालेकी भांति शिथिल होती जा रही है। इधरमें पहले जैसे षड्—दर्शनके अगाधपरिडत प्रबलपराक्रमी शास्त्री तैयार नहीं होते। जो हैं, वे भी कर्दम-बहुल अल्प-जल पल्वलकी मछलियोंकी भांति रोज रोज अपनी संख्याको घटा रहे हैं। और तो और, जो वाराणसी और नवद्वीप, संस्कृत-विद्याके लिये केम्ब्रिज और आक्सफोर्डसे भी अधिक अभिमान कर सकते हैं, वहांके महामहोपाध्यायोंके कुलनन्दन भी आवश्यकता-विवश हो, आये दिन इङ्गलेण्ड या बर्लिनकी यात्रा किया करते हैं। कभी कभी उनकी यात्राका उद्देश्य यह भी बताया जाता है कि वे यहांके दर्शन-ज्ञानकी गिन्नियोंको पश्चिमी विश्वविद्यालयोंके कसौटी-घरोंमें परखवाने या टंच करानेके लिये जा रहे हैं। स्थिति यहां तक विचित्र हो गयी है, कि इधर तो प्रातः कालके नक्षत्रोंकी भांति जो षड्-दर्शनके दो चार बचे-खुचे पुराने परिडत कहीं कहीं पर चमक रहे हैं और जो याद्वश ताद्वश नये दर्शन—शास्त्री तैयार होते हैं, वे सब प्रायः अंग्रेजीकी शिक्षाके बिना पश्चिमी दर्शन—शास्त्रके ज्ञानसे कोरे रहते हैं। और उधर प्रतिवर्ष यहांके विश्व-विद्यालयोंसे टिड्डियोंकी भाति जो अंग्रेजी-शिक्षितोंका दल निकलता है, वह अपने घरकी तत्व—विद्यासे एक परदेशीसे भी अधिक अपरिचित रहता है। इससे इन दोनों दलोंका मेल, जो

कि देशके कल्याणके लिये बहुत वाञ्छनीय है, इस समय तो अन्धे और गूंगेके साथकी तरह केवल हास्य-जनक ही नहीं, प्रत्युत करुणा-जनक भी है। क्योंकि गूंगा अन्धेकी बात नहीं सुन सकता और अन्धेको उसके इशारे नहीं सूझते। युक्तप्रदेशके विद्या-प्रिय भूतपूर्व छोटे लाट सर लाटूशको यह बेमेल खाता अखरा था। उन्होंने आजसे कई वर्ष पहले प्राचीन विद्यापीठ वाराणसी-में, अपने एक भाषणमें कहा था कि "इस देशका यह वर्तमान शिक्षा-क्रम अनुपयुक्त और असन्तोष-प्रद है। अब समय आ गया है कि यहां कि शिक्षामें पूर्व और पश्चिमके ज्ञानको मिला दिया जाय। जिस दिन हम लोग पूर्वी और पश्चिमी ज्ञानकी नदियोंके संगममें स्नान करेंगे उस दिन हमारा रूप एक दम नया और स्पृह-णीय हो जायगा।" हम कहते हैं कि हमारा रूप ही नया नहीं हो जायगा, किन्तु युरोपीय तत्व-विद्याकी बाढ़के जलको यदि भारतवर्षकी प्राचीन तत्त्व-विद्याके शुष्क खेतोंमें ठीक तौरसे सींच दिया जाय तो वहांसे जो फल उत्पन्न होंगे, वह संसारके लिये सबसे अधिक स्वास्थ्य-प्रद भी होंगे। अस्तु, उक्त छोटे लाटकी उस बड़ी बातको कई वर्ष हो गये पर यहांकी शिक्षा-शैलीमें वही "यथापूर्वमकल्पयत्" चलता है। इसीसे आजसे दो वर्ष पहले बंगालके तत्वविद्या-प्रिय गवर्नर लार्ड रोनाल्डशेको कलकत्ता, विश्व-विद्यालयके उपाधि—वितरणोत्सवमें भारतीय छात्रोंको फिर ये सोपालम्भ वचन कहने पड़े थे "भारतीय छात्रो! तुम उस देशमें उत्पन्न हुए हो, जहांके रोम रोममें आध्या-

त्मिक भाव व्याप्त हैं; पर तुम अपनी अध्यात्म–विद्याको नहीं जानते। तुम कौन्ट हक्सले और स्पेन्सरके मत–वादको जानते हो, किन्तु संसारके सर्वोत्तम दार्शनिक शङ्कराचार्यके मायावाद का क्या तत्त्व है—यह नहीं जानते !" पर इसमें दोष किसका ? शिक्षा–पद्धतिके प्रवर्त्तकोंका या छात्रोंका ? छात्र इस विषयमें निर्दोष हैं। पर साथ ही शिक्षा–पद्धतिके प्रवर्त्तकोंको भी दोष नहीं दिया जा सकता। क्योंकि उसमें हमारे आदमियोंका भी कुछ दोष है। इस देशमें अंग्रेज़ी–राज्यके आरम्भ-कालमें जब विश्व–विद्यालयोंकी स्थापनाका प्रस्ताव हुआ, तब यह प्रश्न उठा कि शिक्षा किस भाषामें दीजाय ? इङ्गलिशमें अथवा देशी भाषा में ? अधिकांशकी सम्मति थी कि संस्कृत आदि देशी भाषाओंमें। पर लार्ड मेकालेके तर्क–पूर्ण विरोधने पहला मत रद्द करा दिया, और अन्तमें इङ्गलिशके द्वारा शिक्षा देना निश्चित हुआ। यदि उस समय ब्राह्म-समाजके प्रतिपत्तिशाली जन्म-दाता और उस समयकी गवर्नमेंटके प्रियपात्र राजा राममोहनराय मेकालेके मतका पदानुसरण नहीं करते तो इस समय विश्व-विद्यालयों और सरकारी दफ्तरोंमें संस्कृत भाषाकी तत्त्व-विद्या-का और देशी भाषाओंका कुछ और ही स्थान होता। विश्व-विद्यालयोंमें अंग्रेजी भाषा एक अन्यतम विषय रहती और उसके उन्नत भावों तथा अन्यान्य विषयोंकी शिक्षा हमें देशी भाषाओंमें मिलती। ऐसा होनेसे लाटूश साहबका अभिमत सफल होजाता और लार्ड रोनाल्डशेको भारतीय दर्शन-शास्त्रके लिये उत्तप्त श्वास

छोड़ने नहीं पड़ते। यही अपेक्षित भी था, क्योंकि देशमें शीघ्र जागृति किसी परभाषाके द्वारा नहीं होती है किन्तु उसके उन्नत भावोंसे होती है, जब कि वे किसी देशी भाषाके द्वारा फैला दिये जायं। जो हो, अब भी समय है, कि हम पिछली दशाको सम्हालें और आगेके लिये सम्हलें। न तो संस्कृतके समस्त दर्शन-शास्त्रोंका झटपट अंग्रेजीमें अनुवाद होसकता है और न युरोपकी तत्त्व-विद्याका संस्कृतमें। इसलिये सबसे सुगम मार्ग यह है कि इन दोनोंका अनुवाद हिन्दी भाषामें हो, और क्रमशः उच्चसे उच्च शिक्षा हिन्दी भाषाके द्वारा दी जाय।

(२७) दर्शन-शास्त्रके ग्रन्थोंका मुद्रण.

विक्रमकी वर्तमान शताब्दीके आरम्भमें अर्वाचीन दार्शनिक ग्रन्थोंकी अधिक आलोचना होनेसे महर्षि-प्रणीत मूल दर्शन-शास्त्रकी प्रायः चर्चा बन्द हो गयी थी। यदि कई एक विद्योत्साही महोदय इस विषयमें प्रयत्न नहीं करते तो डर था कि ये सब दर्शन-शास्त्र इस देशसे एक बार लुप्त हो जाते। पहले पहल कलकत्तेके केरी साहबने विज्ञानभिक्षुकृत-भाष्य-समेत कपिलके सांख्य-सूत्र, विलसन साहबने वृत्ति-सहित न्याय-सूत्र, राजा राममोहनरायने शङ्कर-भाष्यके साथ वेदान्त-दर्शन और एशियाटिक सोसाइटीने दो टीकाओं समेत वैशेषिक दर्शन छपाया। इसके बाद एशियाटिक सोसाइटी, डाक्टर वालंटाइन, कलकत्ता-संस्कृत-कालेजके अध्यक्ष प्रो० कोवेल, एशियाटिक सोसाइटीके सेक्रेटरी डा० रोअर, हाल,

मैक्समूलर, गाफ, वार्थ, सेन्ट, हिलेर, कोलब्रुक आदि पश्चिमी पण्डितोंने एवम् पं० के० एम० बनर्जी, गोविन्ददेव शास्त्री, बाल शास्त्री, रामनारायण विद्यारत्न, जयनारायण तर्क-पञ्चानन, ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर, महेशचन्द्र न्यायरत्न आदि एतद् देशी पण्डितों-ने दर्शन-शास्त्रके प्राचीन और अर्वाचीन ग्रन्थोंके एवम् उनके इंगलिश अनुवादके मुद्रण तथा प्रकाशनमें जो अतिशय यत्न एवम् असीम परिश्रम किया है, उसके लिये हम लोगोंको उनका चिरकाल तक कृतज्ञ रहना चाहिये। आरम्भमें प्रायः बहुतसे ग्रन्थ तो बैब्लोथिका इन्डिका और बनारसके 'पण्डित' पत्रमें प्रकाशित हुए। अब तो काशी, पूना, बम्बई, कुम्भकोणम् और ट्रावंकोर आदिके प्रेसोंमें दर्शन-शास्त्रके नित्य नये ग्रन्थ छपते जा रहे हैं। राज्य-क्रान्ति, अत्याचार और पण्डितोंके उत्तराधिकारियोंकी मूर्खता-से जो ग्रन्थ नष्ट हो गये, उनके सिवा और भी ऐसे बहुत ग्रन्थ छपने शेष हैं कि जिनके प्रकाशनसे हमारे इतिहासके कई एक गम्भीर गर्त्त प्रकाशित हो उठेंगे।

(२८) 'सर्व-दर्शन-संग्रह' और उसके अनुवाद.

दर्शन-शास्त्रके ग्रन्थ तो वैसे बहुत बने, पर संग्रह-ग्रन्थका उसमें बहुत दिनों तक अभाव रहा। विक्रमकी चतुर्दश शता-ब्दीमें सर्व वेद-भाष्यकार सायणाचार्यके भ्राता माधवाचार्यने इस अभावको दूर करनेके लिये सर्व-दर्शन-संग्रह-नामक ग्रन्थ निर्माण किया। ये दोनों भाई अपने समयके तो अतुलनीय पण्डित थे ही, पर इनके बाद आज तक भी हिन्दू जातिको वैसे

पण्डित नहीं मिले। वैदिक विषयोंमें सायणाचार्यका ज्ञान जैसा अगाध था, दर्शन-शास्त्रमें माधवाचार्यका पाण्डित्य भी वैसा ही सर्वतो-मुख था। यदि ये दोनों भाई नहीं होते तो संस्कृत-विद्या-मन्दिरका एक प्रशस्त कोष्ठ शून्य ही दिखायी देता। इसलिये यह मानना पड़ता है कि सर्व-दर्शन-संग्रहका बड़े योग्य हाथोंसे निर्माण हुआ है। इसमें माधवाचार्यने अपने समय तक प्रचलित पन्द्रह दर्शनोंका सार रख दिया है। शांकर दर्शनका वे दूसरे दूसरे ग्रन्थोंमें बहुत स्पष्टीकरण कर चुके थे, इसलिये उसका इस ग्रन्थमें उन्होंने सन्निवेश नहीं किया। सर्व-दर्शन-संग्रह, बड़ी उत्तम कोटीका ग्रन्थ है और संस्कृतज्ञ व्यक्तियोंके लिये यह बहुत उपकारक है। इसकी आलोचनासे पन्द्रह दर्शनोंका परिचय पा लेने पर बहु-दर्शिता और विज्ञता बढ़ जाती है। श्री पं० ईश्वरचन्द्र विद्यासागरने तथा विलसन साहबने पहले पहल इसे ए० सोसाइटी द्वारा छपाया और प० जयनारायण तर्क-पञ्चाननने कलकत्ता-संस्कृत-कालेजके अध्यक्ष ई० बी० कावेल एम० ए० की सहायतासे इसका बंगानुवाद प्रकाशित किया। पर यह ग्रन्थ है बड़ा अटपटा, इसलिये उक्त पण्डितजीने इसका अविकल अनुवाद नहीं किया। जो जो अंश बिलकुल फालतू किम्वा कोरे ईंट-रोड़े दिखायी दिये, उनको एक दम छोड़ दिया। कहीं कोई आवश्यक विषय संक्षेपमें था तो उसे विशद करनेके लिये वहां उसकी व्याख्या विस्तारसे कर दी और आवश्यकतानुसार दूसरे ग्रन्थोंका उप-

योगी विषय भी वहां जोड़ दिया। बौद्ध आदि कई दर्शनोंका यदि अविकल अनुवाद किया जाय तो सम्भव है कि कुछ भी अर्थ, हाथ–पल्ले नहीं पड़े और इन दर्शनोंके मूल-पुस्तक इस देशमें मिलते नहीं, अतएव इनका जो सुगम अंश था, उसीका उन्होंने अनुवाद किया, बाकी ऐसे अंशोंको छोड़ दिया है कि जिनके अनुवादके लिये दूसरे ग्रन्थोंकी अपेक्षा थी। एक और अनुवाद, सर्व-दर्शन-संग्रहका आजसे पच्चीस वर्ष पहले हो चुका है ; उसे गुजराती भाषामें पं० मणिशङ्कर हरगोविन्द भट्ट बी० ए० ने किया था। इन्होंने बड़ी हिम्मत करके समस्त ग्रन्थका अविकल अनुवाद कर डाला और साथ ही विस्तृत भूमिकाके साथ स्थान स्थान पर मूल-विषय की दुरूहता दूर करनेके लिये अगणित टिप्पणियां भी दी हैं। तथापि यह आशा करनी व्यर्थ है कि कुछेक वीर पुरुषोंको छोड़ कर उस अनुवादके सहारे कोई पाठक बौद्ध आदि दर्शनोंकी बात समझ ले। कारण, स्वभावसे ही दर्शन-शास्त्रका विषय कठिन है, पढ़नेसे भी सबके समझमें नहीं आता है, फिर अविकल अनुवादके कारण वहां ऐसे ऐसे गंगा-पुत्र (पत्थर) रह गये हैं कि जिन पर हरेक विचारशीलके विचारकी टांची (टंकी) कुंठित हो जाती है, तथापि जो मनो-निवेश पूर्वक पढ़ेगा, सर्वथा वह कोरा भी नहीं रहेगा, स्थूल रूपसे सब दर्शनोंके अनेक अंश समझ लेगा। हिन्दी भाषामें बा० उदयनारायणसिंहजीका अनुवाद द्रविड़-प्राणायामका एक खासा नमूना है। क्योंकि संस्कृत भाषाका

यथोचित ज्ञान न होनेके कारण उन्हें सर्व-दर्शन-संग्रहके अंगरेजी अनुवादके आधार पर अपनी पुस्तक लिखनी पड़ी है। पंजाब-के डी० ए० वी० कालेजके पण्डितोंके जो षड्-दर्शन और नव-दर्शन पर दो ग्रन्थ छपे हैं, वे सर्व-दर्शन-संग्रहके अनुवाद नहीं हैं, स्वतन्त्र ग्रन्थ हैं। जिनमें उनके कर्ताओंने अपने विचार-के अनुसार कुछ दर्शनोंका संक्षिप्त परिचय दिया है। सं० १९५९ में मेरे स्वर्गीय पूज्य सहोदर श्रीयुत पं० माधवप्रसादजी मिश्रने अपने उन दिनोंके यशस्वी मासिक पत्र सुदर्शनमें – जो कि बनारसके सुप्रसिद्ध हिन्दी-आख्यान-लेखक उदारमना बाबू देवकीनन्दनजी खत्रीकी अध्यक्षतामें अढ़ाई वर्ष तक चलता रहा, सर्व-दर्शन-संग्रहका एक सर्वाङ्ग-युक्त मनोहर अनुवाद आरम्भ किया, साथ ही महामहोपाध्याय प० चन्द्रकान्त तर्कालं-कारके उन भाषणोंका भी कि जो उस समय हिन्दू-दर्शन पर कलकत्ता-विश्व-विद्यालयमें हो रहे थे। परन्तु दुर्भाग्यवश यह दोनों ही काम अचानक सुदर्शन पत्रके बन्द हो जानेसे जहांके तहां रह गये। सर्व-दर्शन-संग्रहका अनुवाद तो बौद्ध दर्शनकी समाप्ति तक भी नहीं पहुंचने पाया। इत्थं कालस्य चेष्टितम्!

(२९) दर्शनोंके विभाग.

भारतवर्षके समस्त दर्शनोंके मुख्य दो विभाग हैं:—एक वैदिक और दूसरा अवैदिक। अवैदिक विभागमें वेदको नहीं मानने वाले चार्वाक, बौद्ध और जैन—दर्शनोंका समावेश है। वैदिक दर्शनोंके भी दो बड़े भेद हैं :— केवल दर्शन और पौराणिक दर्शन।

केवल दर्शनोंमें छै दर्शन हैं, जिन्हें 'षड्-दर्शन' कहते हैं। पौराणिक दर्शनोंके शैव, वैष्णव, शाक्त और प्रचूर्ण नामसे चार वर्ग हैं। सर्व-दर्शन-संग्रहमें शैव-सम्प्रदायके चार मुख्य दर्शनोंका वर्णन है (१) पाशुपत, (२) शैव, (३) प्रत्यभिज्ञ और (४) रसेश्वर। पद्मपुराणके अनुसार वैष्णव धर्मकी चार सम्प्रदाय हैं:—(१) श्री-सम्प्रदाय, (२) माध्व-सम्प्रदाय, (३) रुद्र-सम्प्रदाय और (४) सनकादि-सम्प्रदाय, किन्तु माधवाचार्यने इनमेंसे दो ही सम्प्रदायोंका अर्थात् श्री-सम्प्रदाय और माध्व-सम्प्रदायका निरूपण किया है। क्योंकि रुद्र-सम्प्रदाय (पुष्टि-मार्ग) के उद्धार-कर्ता श्रीवल्लभाचार्य महाप्रभु और सनकादि-सम्प्रदायके संस्कारक श्रीनिम्बादित्य महाप्रभु—ये दोनों ही सर्व-दर्शन-संग्रह-कारसे पीछे हुए हैं। शाक्त-सम्प्रदायके दक्षिणाचार और वामाचार नामसे दो भेद हैं किन्तु माधवाचार्यने इनके सम्बन्धमें, सर्व-दर्शन-संग्रहमें कुछ भी नहीं लिखा। पातञ्जल-दर्शनका वर्णन करते समय उन्होंने तान्त्रिक मन्त्रोंके सम्बन्धमें भी कुछ कहा है। और शाक्त-सम्प्रदायका मूल, तन्त्रोंमें है, इससे सम्भव है कि कदाचित् माधवाचार्यने शाक्त-दर्शनोंका समावेश पातञ्जल योग-दर्शनमें कर लिया हो। प्रचूर्ण दर्शनोंमें गाणपत्य सौर-दर्शन आदिकी गणना हम कर लेते हैं। हो सकता है कि माधवाचार्यने अपने ग्रन्थमें इनका उल्लेख इसलिये नहीं किया हो कि उनके समयमें इनका अच्छा प्रचार नहीं था। बौद्ध-दर्शनके चार विभाग हैं; माध्यमिक,

योगाचार, सौत्रान्तिक और वैभाषिक। जैन-दर्शनके दो भेद हैं, श्वेताम्बर और दिगम्बर। अधिक स्पष्ट कर देनेके लिये हम इन सब दर्शनोंकी व्यवस्था इस प्रकार करते हैं। जिनके नीचे * ऐसा चिन्ह है, उन दर्शनोंका नाम, सर्व-दर्शन-संग्रहमें नहीं है।

भारतीय दर्शन।
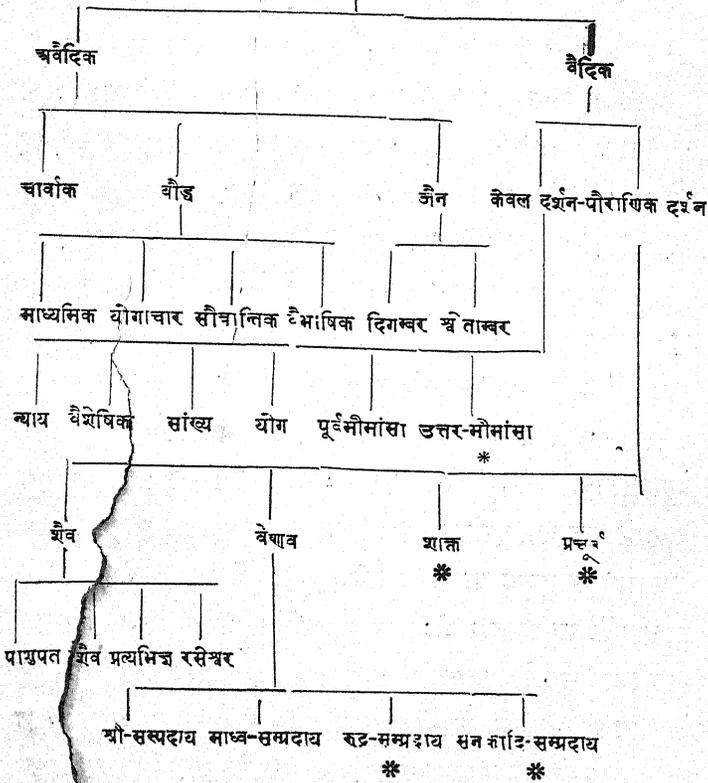
(३०) हमारे ग्रन्थकी संकलन-शैली.

हमारा भारतीय दर्शन-शास्त्र, सर्व-दर्शन-संग्रहका किसी अंशमें अनुकरण होने पर भी अनुवाद नहीं है, सर्वथा स्वतन्त्र ग्रन्थ है। क्योंकि उसमें केवल पन्द्रह दर्शनोंका संक्षेपमें उल्लेख है और यह अनुमान बीससे भी अधिक खण्डोंमें पूरा होगा, जिनमें कि उतने ही दर्शनोंका विस्तृत निरूपण रहेगा। इसके प्रचूर्ण-खण्डमें यथोपलब्ध गाणपत्यादि प्राचीन दर्शनोंके बाद नवीन समयके ब्राह्म-समाज, आर्य्य-समाज, थियासोफिकल सोसाइटी आदिके दार्शनिक सिद्धान्तोंका भी यथासम्भव उल्लेख किया जायगा। यद्यपि इनके दर्शन या मतोंका कोई स्वतन्त्र और अविचल रूप अभी तक नहीं है, जो कुछ है वह पुराने दर्शनोंका ही अपने ढंगपर परिशोधित या परिवर्तित रूप है। तथापि हजारों और लाखों अनुयायियोंकी संख्यामें ये सम्प्रदायें एक बार स्थायी रूपसे जब स्वतन्त्र बन गयी हैं, तब इनके आलोच्यमान सिद्धान्तोंका भी दिग्-दर्शन करा देना अप्रासंगिक नहीं होगा। भारतीय-दर्शन-शास्त्रके प्रत्येक खण्डमें एक एक दर्शनका पूरा विवरण इस भांति रहेगा; दर्शनके मूल-सूत्र सानुवाद या कारिकायें, (यदि मिल सकें) उसके आचार्य्योंकी जीवनी और चित्र, क्रमिक-विकाश या इतिहास, अन्यान्य-दर्शनोंसे तुलना, माधवाचार्य-प्रदर्शित स्वरूप, प्रत्येक आचार्यके अवान्तर मत-भेद, समष्टि रूपसे विस्तृत और विशद वर्णन इत्यादि। पहला खण्ड 'उपक्रमणिका' रूप है। यह

'उपक्रमणिका' पहले 'सुदर्शन' मासिक पत्रमें छप चुकी है। दर्शन-शास्त्रके पाठार्थियोंके लिये यह अत्यन्त उपयोगी है। इसके पढ़ लेनेसे दर्शनके सम्बन्धमें अवश्य ज्ञातव्य अधिकांश विषयोंका अच्छा ज्ञान हो सकेगा। जो लोग किसी एक ही दर्शनको पढ़ना चाहते हैं, उनके लिये भी इसका अनुशीलन बहुत आवश्यक है। खण्डशः प्रकाशित करनेका केवल इतना ही प्रयोजन है कि सम्मिलित खण्डोंका 'भारी पोथा' किसी एक ही दर्शनके जिज्ञासुको भी अगत्या खरीदना न पड़े। यह भूमिका, केवल 'उपक्रमणिका' रूप प्रथम खण्ड ही की नहीं, समस्त ग्रन्थकी है। इसका आरम्भिक अंश यद्यपि कुछ अधिक विस्तृत हो गया है, किन्तु चार्वाक-दर्शनके सिवा भारतके यावत् दर्शनोंका युरोपके जड़-वादके साथ आत्माके विषयमें मत-भेद है, इसलिये चैतन्य-वादके सम्बन्धमें पश्चिमी जड़वादके समालोचनकी अत्यन्त आवश्यकता थी, जो कि विवेक-शील पाठकोंको अरुचिकर नहीं होगी। शेषमें एक बात और कह देनी है, जो नाटकके गर्भाङ्ककी तरह प्रकृत विषयसे भिन्न होने पर भी इसके लिये उपयोगी और पाठकोंके लिये रसात्मक है। वह यह है कि अबतक हम लोग 'षड्-दर्शन' शब्दको ही सुनते आ रहे हैं—इसी लिये इस पुस्तकके आरम्भमें उसके छै आचार्यों-का ही चित्र दिया गया है, पर इधर कई दिनोंसे काशीके श्री-भारतधर्म-महामण्डलकी तरफसे हमें बार बार साम्प्रदायिक मन्त्रकी भांति कण्ठस्थ कर लेनेके लिये 'सप्त दर्शन' नामक

अश्रुतपूर्व अभिनव शब्द सुनाया जा रहा है, जो आजतक हमारे सारे पुराने वाङ्मय, और इस समयके विश्व-कोश, इन्साइक्लोपीडिया तकमें दुर्लभ-दर्शन था। इस शब्दके पुष्ट-पोषणके लिये 'दैवी-मीमांसा' नामकी एक सानुवाद सूत्रावलीको भी दर्शन-शास्त्रके रङ्ग-मञ्च पर ला खड़ा किया गया है। हम मान लेते हैं कि 'सप्त दर्शन' शब्द तो नहीं पर 'सप्त सिद्धान्त' शब्दका उल्लेख हमारे प्राचीन ग्रन्थोंमें यत्र तत्र आता है, (१) पर 'दैवी-मीमांसाके' वे आविष्कारक, जिन्होंने श्रीभारतधर्म-महामण्डलकी नेपथ्य-शालामें बैठकर इसे सजाया है, जबतक इसका सरहस्य जन्म-वृत्तान्त प्रकट कर इसकी पात्रता न सिद्ध कर दें, तबतक जिस दर्शन-शास्त्रके परिवारमें चार्वाक दर्शनको भी स्थान मिल गया, वहां इसको स्थान मिलना दुर्लभ है।

(३१) दर्शनोंके समन्वयकी बात.

सूक्ष्म-विचारक, उत्तम-बुद्धि-वैभव-सम्पन्न और तत्त्व-शोधनमें निरन्तर तत्पर पुरुषोंके विचार, वास्तवमें सत्य होने चाहियें और सत्य एक होनेसे वे विचार भी एक रूप होने चाहियें—यह सिद्धान्त जैसे अन्तिम दृष्टिमें यथार्थ है, वैसे ही

(१) एकमेव तु विज्ञेयम् प्रणवं-योग-साधकम्
गृहीत-सप्त-सिद्धान्तैः सर्वैर्ब्रह्मविदै (?) सदा ॥
हैरण्यगर्भैः कपिलै रपान्तरतमैस्तथा
सानत्कुमारै र्ब्रह्मिष्ठै स्तथा पाशुपतैरपि ॥
पाञ्च-रात्रैरपौत्यैतैः सिद्धान्तैश्चैव सप्तभिः।
(याज्ञवल्क्य-स्मृतिकी टीका अपरार्कमें, योगी याज्ञवल्क्य)

मनुष्योंकी आरम्भिक दृष्टिको भी बहुत प्यारा है। इस सिद्धान्त-की पुष्टिके लिये पुस्तकों और क्षुद्र निबन्धोंके रूपमें जो विचार प्रकट किये जाते हैं, उनका नाम है—'षड्-दर्शन-समन्वय'। हम 'समन्वय' के विस्तृत विषयको स्थलान्तरके लिये छोड़ कर उन लोगोंसे जो वस्तुतः सब दर्शनोंके भिन्न भिन्न सिद्धान्तोंको अभिन्न रूपमें देखना चाहते हैं, इस पुस्तकके आवरण पृष्ठ पर उद्धृत ऋग्वेद और श्रीमद् भागवतके अवतरणोंको पढ़ लेनेका अनुरोध करते हैं। मनुष्यकी बुद्धि, तत्त्व-जिज्ञासा और विचारोंमें जिस जिस प्रकार आगे बढ़ती है, उसी उसी प्रकार वह भेद और अनेकताको आवश्यक समझ कर भी उसमेंसे अभेद और एकताको ढूंढ़ निकालती है। पर अपनी शक्तिकी परिमितताको जान कर उसने यह दावा कभी नहीं किया कि "मैं सर्वज्ञ हूं"। क्योंकि जिस समय ऐसा दावा होता है, उस समय उसकी व्यक्तिका अस्तित्व ही नहीं रहता। इसलिये माधवा-चार्य कहते हैं कि "दार्शनिकोंकी बुद्धि परिमित है, उनमेंसे किसी एकको अन्वेषण-कालमें सर्वज्ञ कैसे मान लें?" * और जिस समय दार्शनिक सर्वज्ञकी सीमामें पहुंच जाता है, उस समय वह दार्शनि-कताकी भूमिको छोड़ बैठता है। अतएव बड़ेसे बड़े दार्शनिक-के मुंहसे श्रीमद्भागवतके स्वरोंमें यही निकलेगा कि "नमः

---

* अल्पिका मानुषी बुद्धिः सा च न व्यवतिष्ठते
कपिलो यदि सर्वज्ञः कणादो नेति का कथा॥
उभौ च यदि सर्वज्ञौ व्याख्या-भेदस्य किङ्कृतः?
(पाराशर माधव—भूमिका)

पतन्त्यात्मसमं-पतत्रिणः” (सब पक्षी अपनी शक्तिके अनुसार एक ही आकाशमें उड़ते हैं)। यह तो हम नहीं कहते कि पृथिवी पर आज तक धर्मके जो जो स्वरूप बने हैं, वे सब एक ही हैं, किन्तु देश, काल और प्रसंगकी उपाधियोंको दूर करके यदि निरपेक्ष रूपसे अन्वेषण किया जाय तो यही मानना पड़ेगा कि जितने धर्म हैं, उन सबमें एक अविच्छिन्न सत्य ढूंढा गया है। आचार्य पुष्पदन्त सब दर्शनोंका समन्वय करनेके लिये क्या ही अच्छा तर्क-शून्य सरल सिद्धान्त कह गये हैं कि :—

“रुचीनां वैचित्र्याद्दजु-कुटिल- नाना-पथ-जुषाम्, नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव”।

(३२) इस ग्रन्थके अनुशीलनसे एक स्थूल लाभ.

जिस अर्थमें इतिहास शब्दका प्रयोग आजकल होता है, प्राचीन समयमें कदाचित् उस अर्थमें प्रयोग नहीं होता हो, पर किसी एक ही पुस्तकमें विभिन्न मतों या सिद्धान्तोंको एकत्रित कर देनेकी प्रथा पहले भी थी। पुराण, महाभारत आदिमें सम्वाद या उपाख्यान रूपसे विविध सिद्धान्तोंका संग्रह है। श्रीव्यासाचार्यने बहुतसे प्रतिकूल मतोंका उल्लेख शारीरक सूत्रोंमें किया है। संस्कृत भाषामें पुराणोंके आधार पर इतिहास-समुच्चय, दृष्टान्त-समुच्चय आदि बहुतसी पुस्तकें लिखी गयीं। हिन्दी भाषामें इस शैलीपर नाभाजीने पहले भक्त-माल बनायी। बंग-भाषाकी भारतवर्षीय-उपासक-सम्प्रदाय आदि पुस्तकें अंग्रेजी पुस्तकोंका अनुकरण हैं। भारतीय-दर्शन-शास्त्र भी एक प्रका-

रसे धार्मिक इतिहासका संग्रह है। धर्मका यथार्थ स्वरूप समझनेके लिये धर्मके इतिहासका ज्ञान आवश्यक है। हमसे पहले धर्मके सम्बन्धमें विचार करनेवाले जो जो महापुरुष हुए हैं, उनके, धर्मके सम्बन्धमें क्या मत थे, यह जान लेने पर हम उससे बहुत कुछ तत्त्व-निश्चय कर सकते हैं। किसी साधारण मतको जान लेनेसे ही तत्त्व-निश्चय नहीं हो सकता, किन्तु तत्त्व-निश्चयके लिये उसके सकारण स्वरूपको समझना आवश्यक होता है। औषधको जान लेनेसे ही जैसे रोग-नाश या स्वास्थ्य-लाभ नहीं होता, वैसे ही किसी सिद्धान्तको केवल शाब्दिक रूपसे समझ लेनेसे ही तत्त्व-निश्चय नहीं होता, प्रत्युत तत्त्व-निश्चय उस सिद्धान्तके अनुसार आचरण या अनुष्ठानसे होता है। पर आचरण या अनुष्ठानसे पहले उसके सिद्धान्तोंका ज्ञान आवश्यक है, क्योंकि वही पहली सीढी है। किसी भी सिद्धान्तको समझनेके लिये उसके सम्बन्धमें यह जानना जरूरी है कि इस सिद्धान्तका आरम्भमें क्या स्वरूप था? समयके फेरसे वह किस किस तरह बदलता गया। इस वर्तमान रूपमें आनेसे पहले उसे जिन जिन स्थितियोंमें होकर गुजरना पड़ा है, उन स्थितियोंका सकारण स्वरूप क्या था? नीति, राजकीय व्यवस्था, व्यवहार और धर्मके सम्बन्धमें मनुष्योंके कैसे विचार हैं—यहि बात अच्छी भांति समझनेके लिये केवल इतना ही पर्य्याप्त नहीं है कि हम वर्तमान मनुष्य-समाजके एक भागके तत्सम्बन्धी विचार जान लें। केवल इतना ही जानकर हम कृत-कृत्य नहीं हो सकते। किन्तु ये विचार

इस रूपमें आनेसे पहले किन किन स्थितियोंमें पहुँचे, यह जाननेसे और इन भिन्न भिन्न स्थितियोंके परस्पर सम्बन्धका विचार करनेसे ही हमें उन विचारों द्वारा तत्त्वका लाभ हो सकता है। यदि इस पुस्तकसे इस विषयमें पाठकोंको कुछ लाभ पहुँचा तो लेखकका श्रम निष्फल नहीं जायगा।

(२२) कृतज्ञता-प्रकाश.

आजकलके शिष्टाचारमें अपने उपकारकके नाम पर दो चार धन्यवादके शब्दोंका उत्सर्ग कर अपने कर्त्तव्यकी इतिश्री समझ ली जाती है। किन्तु हमें इस पुस्तकके सम्पादनमें जिन दर्शन-शास्त्र सम्बन्धी संस्कृत-पुस्तकों, सर्व-दर्शन-संग्रहके अनुवादों और हिन्दू-दर्शन-सम्बन्धी भाषणोंसे उपादान-सामग्री मिली है, उनके कर्ता आज उन परमपावन उच्च लोकोंमें हैं, जहां, हमारे कुण्ठित कण्ठकी धन्यवाद-ध्वनि पहुँच ही नहीं सकती। इसलिये हम उन प्रातःस्मरणीयोंके स्मरण-मात्रसे अपनेको कृत-कृत्य समझ अपने दो चार जीवित बन्धुओंका उपकार स्वीकार किये बिना नहीं रह सकते। उनमें पहले हैं :— स्वर्गीय मिश्रजीके अनन्य अनुरक्त और उनकी ग्रन्थावली-प्रकाशनके प्रस्तावक श्रीपण्डित झाबरमल्लशर्मा, जिनकी पाताल-भेदी चिकित्साके द्वारा इस ग्रन्थका मूढ गर्भकी भांति प्रेसके कठोदरसे निकास हुआ है। दूसरे हैं :— पूर्वी और पश्चिमी उभय-विद्या-निष्णात मेयो-कालेज, अजमेरके प्रधान प्रोफेसर पं० श्रीचन्द्रधर शर्मा गुलेरी बी० ए०। मिश्रजीकी ग्रन्थावली-

प्रकाशनके लिये स्वर्गाधिपति इन्द्रके समान आपके बराबर तकाजे बने रहे किन्तु हमने भी ऐतरेय ब्राह्मणके शुनःशेफ आख्यानवाले राजा हरिश्चन्द्रकी भांति टाला-टूली करनेमें कुछ कसर नहीं रखी। तीसरे हैं :— प्रयागकी संस्कृत मासिक पत्रिका शारदाके सम्पादक साहित्याचार्य प० चन्द्रशेखर-शास्त्री, जिनके प्रेम-पूर्ण उपालम्भोंसे हम थक गये परन्तु वह नहीं थके। चौथे और पांचवें हैं :—कलकत्तेके बड़े बाजारके बड़े संस्कृतज्ञ रईस बाबू रूड़मल्लजी गोयनका और महामहोपाध्याय प० चन्द्रकान्त तर्कालङ्कारजीके पुत्र श्री प० तारासुन्दर विद्यावाचस्पति—,जिन्होंने स्वर्गीय महामहोपाध्यायजीके ज्ञान-गर्भ भाषणोंका हिन्दी भाषामें उपयोग करनेकी उदारता-पूर्वक हमें अनुमति दे दी है। कलकत्ता-समाचारके यशस्वी सम्पादक महामना कुंवर गणेशसिंह बी० ए० का नाम स्मरण करना भी हम यहां भूल नहीं सकते, जिनसे इस विषयमें बराबर उत्साह और परामर्श मिलता रहा है। हां, राजपूतानाके एक महाराजकी सहायतासे इस पुस्तकका राजकीय संस्करण होनेकी सलाह ठहरी थी और इसके लिये तैयारी भी कर ली गयी थी किन्तु अफलातूनी अर्कके अध्यक्ष प० सी० एल० शर्माजी जानते हैं कि हमें इस विषयमें एक राजासे खासी शिक्षा मिल चुकी थी, इस लिये महाभारतीय अनुशासन पर्वके सप्तर्षि * और राजा वृषादर्भिके संवादको याद कर यही

* राजन् प्रतिग्रहो राज्ञां नध्वास्वादो विषोपमः
तज्जानमानः कस्मात्वँ कुरु्ं कषे नःलोमृभप्रन॥

॥ श्रीः ॥

भारतीय-दर्शन-शास्त्र-

-: की :-

उपक्रमणिका ।
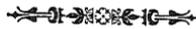
हिन्दू-राज्यके समयकी शास्त्र-चर्चा ।

जिस समय पुण्य-भूमि भारतवर्षमें हिन्दुओंका प्रताप देदीप्यमान था, जिस समय भारतके आकाशमें इनकी विजय-वैजयन्ती, स्वतन्त्रताका उद्घोष करती हुई उड़ रही थी और जिस समय पूज्यपाद ब्राह्मणोंकी आज्ञा-पालन करनेमें यहांके बड़े बड़े चक्रवर्ती सम्राट् भी अपना परम सौभाग्य समझते थे; उस स्मरणीय कालमें जो यहां शास्त्र-चर्चा थी, जो कुछ दार्शनिक विचारोंकी प्रखरता थी और जो कुछ बुद्धिका वैभव विद्यमान था, वह अब कहां? काल-क्रमसे सब "सुपनेको सम्पत्" होगयी।

व्यास, वाल्मीकि आदि महर्षि और गौतम, कणाद, जैमिनि प्रभृति मुनियोंकी बातें जाने दीजिये। वे दिव्य-देह-धारी थे और वह युग ही कुछ और था, उनकी गणना मनुष्योंमें करना केवल भूल ही नहीं, वरञ्च कृतघ्नता भी है। महर्षियोंकी शिष्य-

परम्परामें जो विद्याका चमत्कार हुआ, वही संसारके लिये आश्चर्य्य-जनक और शिक्षा-प्रद है।

पहले युगोंमें जो कुछ हुआ सो हुआ ही, किन्तु कलियुगके आरम्भमें विद्वानोंके आविर्भावसे भारतमें जो युगान्तर उपस्थित हुआ, वह भी विदेशियोंके लिये स्पृहाका विषय है और हमारे लिये गौरवका। कालिदास, भारवि, भवभूति आदि जगद्विख्यात उदारमना महाकवि और कुमारिल, शङ्कर, प्रभाकर तथा मण्डन मिश्र आदि दार्शनिक महापुरुषोंके विचार और रचनाएं भी क्या साधारण बात है? कदापि नहीं। इनकी एक एक बातमें भारतीय और विदेशीय विद्वानोंको वह आनन्द मिलता है, जिसे रसना कह नहीं सकती और लेखनी लिख नहीं सकती।

हिन्दू-राज्यके समयकी शास्त्र-चर्चाका अनुमान एक इसी बातसे कर सकते हैं, कि उस समय जिन महापुरुषोंने बड़े बड़े अद्भुत ग्रन्थ बनाये, उन्होंने अपने विषयमें एक अक्षर तक नहीं लिखा कि वे कौन थे और कब थे? मानों उनके लिये वैसा ग्रन्थ बनाना कोई बात ही न थी! अपनेको वे कुछ समझते ही न थे! जिस महाकवि कालिदासने अपने उत्तमोत्तम ग्रन्थों द्वारा अनेक राजर्षियोंके जीवन-चरितको चित्रित कर उनका नाम अमर कर दिया, अहो! उस महोदार कविने अपने विषयमें कुछ भी नहीं लिखा!

एक कालिदास ही नहीं; प्राचीन समयके सभी महापुरुष यह उदारता दिखा गये हैं। जिस कुमारिल भट्ट और शङ्करा-चार्यने वैदिक-धर्मके प्रबल विरोधी बौद्धोंका दर्प, चूर्ण-विचूर्ण

कर भारतके चारों ओर वैदिक-विजय-वैजयन्ती फिरसे खड़ी की थीं और जिन्होंने तन्त्र-वार्तिक, शारीरिक-भाष्य जैसे आश्चर्य-जनक दुरधिगम्य ग्रन्थ बनाये थे, उन्होंने अपने विषयमें क्या लिखा ? कुछ भी नहीं !

क्या उन महापुरुषोंको लिखना नहीं आता था ? परन्तु नहीं, जैसे वे दूसरोंकी प्रशंसाके समय सहस्र-कण्ठ होते थे ; वैसे ही अपनी कीर्तिके लिये मूक ! तात्पर्य यह है कि उस समय दूसरोंके चरित संसारके कल्याणके लिये लिखे जाते थे, नाम और पेटके लिये नहीं । इस समय जो कुछ लिखा पढ़ा जाता है, वह केवल नाम और उदर-पूर्तिके लिये !

इस लिये आजकल देखनेमें आता है कि छोटी छोटी पुस्तकोंके साथ भी नये कवि निज जीवनका गठजोड़ा कर रहे हैं ! उतने पत्र, मूल विषयके नहीं होते, जितने नये कविके चित्र-चरितसे भरे रहते हैं । बहुतसे महात्मा तो यहांतक बढ़ गये हैं कि किसी प्राचीन कविकी कविताका संस्करणमात्र करा, उसके साथ अपने जीवन-जञ्जालको जकड़कर "ऊंट बिलाईका जोड़ा" बना डालते हैं । किन्तु हिन्दू-राज्यके समय इस सङ्कीर्णताका नाममात्र भी न था ।

हिन्दू-राज्यके कारण उस समय हिन्दू-समाज, शास्त्रानुसार चलता था । प्रत्येक बातमें शास्त्रकी ही शरण थी । इस हेतु धृष्टतासे कोई भी मनुष्य, समाजके दृढ़ बन्धनोंका उच्छेद नहीं कर सकता था । सदैवसे हिन्दू-जातिमें धर्म प्रधान है, हिन्दुओंके विचारमें मनुष्य-शरीरकी सफलता खाने पीने और चैन

करनेमें ही नहीं है, प्रत्युत इसकी पूर्ण सफलता धर्मानुष्ठानमें है। यही कारण है, कि हिन्दुओंके जन्मसे लेकर मृत्यु पर्य्यन्त सभी कार्य धर्मानुगत हैं।

प्राचीन समयके लोग सभी धर्म-प्राण थे। धर्म-रक्षाके लिये सर्वदा सन्नद्ध थे। वह कौनसा कार्य था, जिसे वे धर्मके लिये न कर सके हों? वह कौनसी वस्तु थी, जिसे वे धर्मके लिये न दे सके हों? धर्मके ही लिये भगवान् रामचन्द्रने समृद्ध राज्यका परित्याग किया। धर्मके ही लिये पाण्डव वनमें गये। धर्मके ही लिये हरिश्चन्द्र चाण्डालके दास बने और धर्मके ही लिये महर्षि दधीचिने अपने पवित्र शरीरके अस्थि तक दे दिये! कहां तक कहें? हमारे पूर्वज धर्मार्थ प्राण तक देनेमें पराङ्-मुख नहीं हुए और न उन्हें धर्मकी जरा भी क्षति सह्य हुई।

भारतवर्षमें उस समय बालकसे वृद्ध तक **"धर्मे सर्वं प्रतिष्ठितम्"** यही मन्त्र जपा करते थे। बालकको गुरु सबसे पहले यही उपदेश करते थे, कि **"सत्यंवद, धर्मंचर।"** यहांके राज्य-चिन्हमें **"यतो धर्मस्ततो जयः"** यह महावाक्य विद्य-मान था। बात बातमें लोग कह उठते थे कि **"धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।"** जिधर सुनते उधर यही सुनते थे, कि **"न जातु कामान्न भयान्न लोभाद्धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।"** बस, चारों ओर धर्मका ही जयजय-कार था। चारों पुरुषार्थोंमें धर्म ही प्रधान था। शास्त्रोंमें धर्म-शास्त्रका ही आदर था। वीरोंमें धर्म-वीर ही

प्रबल था। राजा, प्रजा, स्वामी, सेवक, गुरु और शिष्य सब अपने अपने धर्ममें तत्पर थे।

अध्ययन उनके धर्म-कर्ममें परिगणित और अवश्य कर्तव्य था*। वेदका अध्ययन, शास्त्रमें ब्राह्मणका परम तप कहा गया है†। जब तक वेदका अध्ययन न किया जाता, तब तक धर्म-ज्ञान

---

* "तपो-विशेषैर्विविधैर्व्रतैश्च विधि-देशितैः।
वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना॥"

(मनु-संहिता। २।१६५)

"कई प्रकारकी तपस्या और शास्त्रोक्त जप करता हुआ द्विजाति उपनिषद् और वेदाङ्ग सहित वेदाध्ययन करे।"

"स्वाध्यायोऽध्येतव्यः"

(रत्नप्रभा-प्रभृति-धृत-श्रुति)

"वेदका अध्ययन करे, यह विधि नित्य है।"

† "वेदमेव सदाभ्यस्येत् तपस्तप्यन् द्विजोत्तमः।
वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परमिहोच्यते॥"

(मनु-संहिता। २।१६६)

"तपस्या करनेकी जिस ब्राह्मणकी इच्छा हो, वह सर्वदा वेदाभ्यास ही करे। क्योंकि ब्राह्मणका वेदाभ्यास ही परम तप है।"

"आहैव स नखाग्रेभ्यः परमं तप्यते तपः।
यः स्रग्व्यपि द्विजोऽधीते स्वाध्यायं शक्तितोऽन्वहम्॥"

(मनु० २।१६७)

"वह द्विज, (पाओंके) नखोंसे अग्र (शिखा) तक परम तप तप रहा है, जो माला पहने हुए भी शक्ति भर प्रति दिन वेद पढ़ता है।"

नहीं होता, क्योंकि धर्म-ज्ञान, वेदाध्ययन-साध्य है* और वेदका पाठमात्र कण्ठ करनेसे अध्ययन पूर्णताको नहीं पहुंचता, इस कारण अर्थ-ज्ञानकी भी आवश्यकता थी। वेदके अर्थ जाननेवालेकी प्रशंसा और न जाननेवालेकी निन्दा शास्त्रमें पायी जाती है, निरुक्तमें लिखा है:—

"स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्। योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान-विधूत-पाप्मा।"

(निरुक्त।१।६।२)

अर्थात्—"जो वेदका अध्ययन कर उसका अर्थ नहीं जानता, वह गधेके समान केवल बोझा ढोनेवाला है। जो अर्थ जानता है, वही पूर्ण कल्याणको प्राप्त होता है और अर्थ-ज्ञानसे सब पापोंको धोकर स्वर्गमें पहुंचता है।" अर्थ-ज्ञानके विना भी वेदसे अदृष्ट वा पुण्य उत्पन्न होता है सही, † किन्तु कर्मावबोध

---

* "दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम।"

(मीमांसा-भाष्य।१।१।१)

"कर्मका अवबोध, वेदाध्ययनका दृष्ट प्रयोजन है"।

† "यद्वाऽध्ययन-संसिद्ध-विज्ञान-रहितोऽपि सन्।
नातीवाधिक्रिया-शून्यो भर्तृयज्ञादि-दर्शनात्॥"

(त्रिकाण्ड-मण्डन।१।४।१)

"अर्थ-ज्ञानाभावे कर्मण्यधिकारो नास्तीति वक्तुं न युक्तम्।"

(त्रिकाण्डमण्डन-टीका)

वा धर्म-ज्ञान वेद्के अर्थ विना हो ही नहीं सकता। साधारण अर्थ जाननेपर भी पहले पहल वेदमें जो परस्पर विरुद्ध वाक्य प्रतीत होते हैं, उनकी मीमांसा भी आवश्यक है। दर्शन-शास्त्रके विना मीमांसाका दूसरा उपाय ही क्या है? कुछ नहीं। इस कारण महर्षि मनुजीने कहा है कि:—

"आर्षं धर्मोपदेशञ्च वेद-शास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते स धर्मं वेद नेतरः॥"

(मनु-संहिता १२।१०६)

अर्थात्, "वेद और स्मृति आदि शास्त्रोंको जो वेदानुकूल तर्कके द्वारा विचार करे, वही धर्मको जान सकता है, तर्कान-भिज्ञ नहीं।"

उन्होंने और भी कहा है "जो विशुद्ध धर्मको जानना चाहे, वह प्रत्यक्ष, अनुमान और शास्त्रको पहले उत्तम रूपसे जान ले"* धर्म-तत्त्व निरूपण करनेके लिये शास्त्रमें परिषद्–(धर्म-सभा) की आवश्यकता वर्णन की गयी है।†

(१) 'त्रैविद्य'—चारों वेदोंका जाननेवाला। (२) 'हैतुक'– अनुमानादि-कुशल। (३) 'तर्की'–ऊहापोह-क्षम-बुद्धि-युक्त।

---

* "प्रत्यक्षमनुमानञ्च शास्त्रञ्च विविधागमम्।
त्रयं सुविदितं कार्यं धर्म-शुद्धिमभीप्सता॥"

† "त्रैविद्यो हैतुकस्तर्की नैरुक्तो धर्म-पाठकः।
त्रयश्चाश्रमिणःपूर्वे परिषत् स्याद्दशावरा॥"

(मनु-संहिता १२।१९५)

(४) 'नैरुक्त'—निरुक्त जाननेवाला। (५) 'धर्म-पाठक'—धर्म-शास्त्री। (६) 'ब्रह्मचारी'। (७) 'गृहस्थ' और (८) 'वानप्रस्थ' इन पुरुषोंके द्वारा यह सभा होनी चाहिये।

जैमिनि-कृत "मीमांसा दर्शन" के सबसे पहले अधिकरणमें* यह सिद्धान्त किया गया है, कि वेदाध्ययन सम्पूर्ण होते ही शिष्य गुरुकुलसे लौटकर न आवे। वेदाध्ययनके पश्चात् वेद-वाक्योंके विचारसे धर्म-तत्त्व जाननेके लिये गुरु-कुलमें वास करता हुआ विचार-शास्त्र (मीमांसादि-दर्शन) अध्ययन करे। इसके पीछे गुरु-कुलसे लौटकर गृहस्थाश्रममें प्रवेश करनेका नियम है।†

---

* पञ्चाङ्ग-विचार और तत्प्रतिपादक ग्रन्थका नाम 'अधिकरण' है। विचारके पांच अङ्ग ये हैं:—

"विषयो विशयश्चैव पूर्वपक्षस्तथोत्तरम्।
निर्णयश्चेति पञ्चाङ्गं शास्त्रेऽधिकरणं मतम्॥"

(भट्ट-वार्तिक।)

विषय=विचार योग्य वाक्य अर्थात् जिस वाक्यका अर्थ विवेचित हो, उसका नाम विषय है। विशय=संशय अर्थात् इस वाक्यका यह अर्थ है कि अन्य अर्थ—इस प्रकारके संशयका नाम विशय है। वास्तवमें जो वाक्यका अर्थ है, उससे विरुद्ध अर्थ प्रतिपादन करनेके लिये जो तर्क उठाया जाय, उसका नाम 'पूर्व पक्ष' है। सिद्धान्तके अनुकूल जिस तर्कका उपन्यास किया जाय, उसका नाम 'उत्तर' है। वाक्यके तात्पर्यार्थ-निश्चयका नाम 'निर्णय' है।

† "अथातो धर्म-जिज्ञासा।" (मीमांसा-दर्शन-सूत्र।)
"गुरुकुलान्मासमावर्तिष्ट, कथंनु वेद-वाक्यानि विचारयेदित्येव-

इससे यह सिद्ध होता है, कि वेदके समान दर्शन-शास्त्र भी प्राचीन समयमें अवश्य अधेतव्य था।

उस समयके ब्राह्मण क्षणिक विषय-सुखको सुख ही नहीं समझते थे, उनके विचारमें विषय-सुखभी एक प्रकारका दुःख ही था * इतना ही नहीं, पार-लौकिक सुखको भी विनाशी जान सर्वथा उसे भी त्याज्य ही समझते थे। न वे इन्द्र-पदकी कामना करते थे और न ब्रह्म-लोककी इच्छा। सुख दुःखके बन्धनको तोड़ मुक्ति लाभ करना ही उनके जीवनका प्रधान उद्देश्य था। भोग-वासना उनसे कोसों दूर रहती थी। देह-धारणोपयोगी जो कुछ सामान्य सामग्री मिलती, उसीमें उन्हें आनन्द था।

आत्माका दर्शन वा साक्षात्कार भी शास्त्रमें परम धर्म कहा गया है †।

दर्शन-शास्त्र, आत्म-साक्षात्कारकी सोपान दिखा देता है। जो लोग धर्मके लिये अध्ययन करते, वे परम धर्म (आत्म-साक्षात्कार) के उपयोगी दर्शन-शास्त्रको मन लगाके अध्ययन करते ही थे। इस विषयमें प्रमाण देना अनावश्यक है। हमारे ऋषि मुनि अध्यात्म-विद्याका विशेष आदर करते थे, इस कारण

मर्थोऽयमुपदेशः········वेदमधीत्य त्वरितेन न स्नातव्यमनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्यः"। (शाबर-भाष्य)

* "दुःख-विकल्पे सुखाभिमानाच्च"।

(न्याय-दर्शन १४।१।५७)

† अयन्तु परमो धर्मो यद् योगेनात्म-दर्शनम्।

(याज्ञवल्क्य-संहिता)

उनके दर्शन अध्यात्म-विद्यासे परिपूर्ण हैं। केवल प्रस्थान-भेदकी रक्षा करनेको भिन्न भिन्न दर्शनोंमें प्रसङ्ग-क्रमसे न्यूनाधिक प्रमाणसे भौतिकादि पदार्थों की आलोचना है। (१) वास्तवमें हमारे दर्शन-शास्त्रको अध्यात्म-दर्शन कहना अत्युक्ति नहीं है। लोगोंकी रुचि भिन्न भिन्न प्रकारकी होती है, इस हेतु दयालु महर्षियोंने भिन्न भिन्न प्रस्थानोंको अवलम्बन कर सब दर्शन बनाये हैं।

प्रस्थान, भिन्न भिन्न होनेपर भी कोई प्रस्थान लक्ष्य-भ्रष्ट नहीं हुआ, अपनी अपनी रुचिके अनुसार, चाहे जिस प्रस्थानका कोई अनुसरण करे, शीघ्र वा विलम्बसे सभी एक ही गन्तव्य स्थानमें उपस्थित होंगे। पुष्पदन्तने कहा है:—

"रुचीनां वैचित्र्यादृजु-कुटिल-नाना-पथ-जुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव ।"

"हे भगवन्, जल चाहे जिस मार्गसे जावे, वह जैसे अन्तको समुद्रमें जाकर मिलता है, वैसे ही रुचिकी विचित्रतासे सरल वा कुटिल-पथ-गामी मनुष्योंके तुम्हीं एकमात्र गम्य हो।" हिन्दुओंका दर्शन-शास्त्र उनके धर्मका सुन्दर पुष्प और फल है। मैक्समूलर साहब भी इस बातको स्वीकार किये विना न रह सके। *

---

(१) भिन्न भिन्न दर्शनोंके प्रतिपाद्य विषयोंकी ओर ध्यान देनेसे यह बात समझमें आ सकती है।

* Tnree lectures, on the Vedantas Philosophy.

आपस्तम्बने कहा है कि "जैसे फलके लिये आम लगाने पर छाया और गन्ध आनुषङ्गिक हो जाती हैं, वैसे ही धर्मका आचरण करनेसे अर्थ आप ही उत्पन्न हो जाता है*" पहले समयके ब्राह्मण चाहे धर्मके लिये ही विद्याध्ययन किया करते थे, किन्तु प्रयोजनके योग्य उन्हें अर्थ भी अनायास ही मिल जाता था। क्योंकि कृत-विद्य ब्राह्मणोंके शास्त्र-ज्ञान और धर्मानुष्ठानका सम्मान करना और उन्हें उपयुक्त वृत्ति देना हिन्दू राजाओंका काम था। जिसे शास्त्रने उनका अवश्य कर्तव्य कहा है। † तभी तो विद्वान् लोग अर्थ-विषयमें निश्चिन्त हो समस्त जीवन धर्मानुष्ठान ही में नियुक्त रखते थे। आनेवाली विपद्के लिये भी उन्हें कुछ चिन्ता न थी। जिस प्रकार पिता अपने औरस पुत्रोंकी रक्षा करता है, उसी प्रकार हिन्दू राजा, विद्वान् ब्राह्मणोंकी रक्षा करते थे ‡।

---

* "आम्रे फलार्थे निर्म्मिते छाया-गन्धावनूत्पद्येते ।
एवं धर्मं चर्य्यमाणमर्था अनूत्पद्यन्ते ॥"

(शारीरिकभाष्यादि-धृत-आपस्तम्ब वचन ।)

† "श्रुत-वृत्ते विदित्वास्य वृत्तिं धर्म्म्यां प्रकल्पयेत् ।"

(मनु-संहिता ७।१३५)

"श्रुत-वृत्ते, शास्त्र-ज्ञानानुष्ठाने ।"

(कुल्लुक भट्ट)

"धर्म्म्यां वृत्तिं यया कुटुम्ब-स्वधर्मस्यावसादनं न भवति ।"

‡ संरक्षेत् सर्वतश्चैनं पिता पुत्रमिवौरसम् ।" (मेधातिथि)

(मनु-संहिता ७।१२५)

शास्त्र-ग्रन्थोंका विनाश।

खेद्के साथ कहा जाता है कि—पहले समयमें जितने दूर-दर्शियोंका आविर्भाव हुआ था, जितने ग्रन्थ बनाये गये थे, उतने अब विद्यमान नहीं हैं। इसका एक यह भी कारण है, कि बौद्ध लोगोंने अपने समयमें हमारे अनेक शास्त्र-ग्रन्थ विनष्ट कर दिये, जिसकी साक्षी इतिहास दे रहा है। * दूसरे प्रकारसे भी शास्त्रोंका जो लोप हुआ है, सो भी ऐतिहासिकोंसे गुप्त नहीं है। †

मार पड़नेपर ही मारनेकी सूझती है, यह एक प्राकृतिक नियम है। बौद्ध लोग दार्शनिक रीतिसे जब वैदिक धर्म-कर्मका खण्डन करने लगे, तब हिन्दू दार्शनिक भी उसके मण्डनको उद्यत हुए। परस्परमें विद्या और विचारका खूब संघर्ष हुआ। इस प्रकार दर्शन-शास्त्रके लिये उस समय एक प्रकारका युगान्तर उपस्थित हुआ था। बौद्ध लोगोंके दार्शनिक तर्क खण्डन

---

* प्रसिद्ध धारेश्वर महाराज भोजने एक 'कामधेनु' नामक स्मृति-संग्रह ग्रन्थ बनाया है। बोध होता है, कि स्मृति-शास्त्रका यही सबसे पहला संग्रह-ग्रन्थ है। 'कामधेनु' की उपक्रमणिकामें ग्रन्थ-निर्माणका इतिहास लिखा है। जिसमें यह भी वर्णन किया गया है, कि उज्जैनके बौद्धराज मतादित्यने भारतवर्षके सहस्रों ब्राह्मणोंको निमन्त्रित कर उनकी सब धर्म-पुस्तकें भस्मीभूत कर घोर विश्वासघात किया। महाराज भोजदेवने इस ग्रन्थकी भूमिकामें उस समयके पुस्तकोंकी एक विस्तृत तालिका भी दी है।

† मरहटोंके अभ्युदयके समय उन्होंने 'सह्याद्रिखण्ड' को नष्ट कर दिया, इत्यादि।

करनेको जो सहस्रों ग्रन्थ रचे गये थे, उनमें से अनेक अब तक भी वर्तमान हैं।

मुसलमानोंके राज्य-समयकी अवस्था।

इसमें सन्देह नहीं, कि बौद्धोंने हमारे अनेक शास्त्र नष्ट किये, वैदिकधर्म और ब्राह्मणोंको निर्जीव बनानेमें कुछ भी कसर न की, पर तो भी अपना अन्तको अपना ही है। उनका अत्याचार मुसलमानोंके अत्याचारसे चतुर्थांश भी न था। भारत पर विदेशी शत्रुओंका भयङ्कर आक्रमण नहीं हुआ था। तब तक धर्म-प्राण ब्राह्मणोंके रक्तसे भारत-भूमि कलङ्कित नहीं हुई थी। तब तक खड्ग-हस्त उपदेष्टा भारतकी सीमा भी स्पर्श न कर सके थे, इस कारण तब तक भी देशमें शान्ति विराजमान थी। काल-क्रमसे देश-दशाका परिवर्तन हुआ।

कुरानमें जो है, उसके लिये ग्रन्थान्तर निष्प्रयोजन? और कुरानमें जो नहीं है, वह अप्रमाण और असत्य! सुतराम्, जो ग्रन्थ इस प्रकार असत्य विषयका उपदेश देता हैं, वह अनिष्टकर है, जगत्में उसकी स्थिति वाञ्छनीय नहीं। इस अद्भुत युक्ति द्वारा जिस जातिके सेनापतिकी आज्ञासे 'अलकजेण्ड्रिया' का विख्यात पुस्तकालय भस्मीभूत हो गया था,* दुर्भाग्यसे उसी जातिका राजा भारतका 'बाहरी शत्रु' बनकर आया!† जिस

---

* किसी किसीका यह भी मत है, कि 'अलिकजेण्ड्रिया' का पुस्तकालय भस्मीभूत हुआ, यह सच है, किन्तु वह सेनापतिकी आज्ञासे नहीं हुआ।

† मुसलमान महमूद और नादिरशाह आदि सचमुच इसदेशके शत्रु

प्रबल शत्रुके आक्रमणसे भारतकी अतुल विभूति और परमाराध्य देव-मूर्ति पर्य्यन्त नष्ट हो गयी, कौन कह सकता है, कि उसके आक्रमणसे शास्त्र-ग्रन्थ नष्ट नहीं हुए ? नहीं नहीं, शत्रुने शास्त्रोंसे अपने प्रज्वलित हृदयको ही शीतल नहीं किया, प्रत्युत उनसे वर्षों तक 'हम्माम' भी गरम किया गया ! प्रबल विदेशी शत्रुओंके वार वार के आक्रमणोंसे देश, अन्तःसार-शून्य हो गया ।

"छिद्रेष्वनर्था बहुली भवन्ति ।"

ऐसे सङ्कटके समयमें स्नेह और ममत्वके बदले हिन्दू-राजाओंमें फूट पड़ी । एक दूसरेका विरोधी हुआ, जिसका परिणाम यह हुआ, कि भारतके पवित्र सिंहासनपर यवनोंका पैर जम गया ! घोर अराजकता वा राज-विप्लवके समय जो जो अनर्थ होने चाहियें ; भारतमें सब हुए । एकसे भी यह अपनेको नहीं बचा सका ! देशमें घोर अशान्तिका आविर्भाव हुआ । चारों ओर हाहाकार मचा ! एक हाथमें धर्म-पुस्तक और दूसरे हाथमें तलवार लेकर धर्म-प्रचार करना जिस जातिकी रीति है, उस जातिके राजाके प्रथम अधिकारके समय हिन्दू-प्रजाकी कहां

थे । राज्य-विस्तार की इच्छासे ये लोग यहां नहीं आये थे, भारतकी धनसम्पत्ति लूटकर अपने देशमें लेजाना ही इनके आक्रमणका प्रधान उद्देश्य था । एक तरह हम यह भी कह सकते हैं कि ये लोग राजाकी तरह नहीं—यहां लुटेरोंकी तरह आये थे ! मारना काटना और लूटना ही इनका काम था !!

तक दुर्दशा हो सकती हैं, यह सहजमें ही अनुमान किया जा सकता है।

तब देशके राजा-प्रजा सभी लोग आत्म-रक्षामें तत्पर हुए। राजा पण्डितोंकी वृत्ति निर्धारण करना भूल गये और न औरस पुत्रोंकी तरह उनकी रक्षा ही कर सके। उस समय किसी प्रकार कुटुम्ब और धर्मको बचा लेना ही बड़ी बात थी। शास्त्र-व्यव सायी तब इसीमें कृतार्थ थे। कुटुम्ब-पालन और धर्म-रक्षाके निमित्त अब पण्डितोंको भी धनोपार्जन करना आवश्यक हुआ। शास्त्र-चिन्ताका ध्यान अब कुछ अर्थ चिन्ताने घेर लिया। कई एक कारणोंसे पहलेकी अपेक्षा धर्म-निष्ठा भो अल्प हो गयी। विद्याकी उन्नतिकी आशा अब दुराशामात्र हुई। किन्तु तब भी विद्या-चर्चा एकदम उठ नहीं गयी थी। कारण, उस समय ब्राह्मणोंकी धर्म-निष्ठा कुछ हिलनेपर भी निर्मूल नहीं हुई थी।

शास्त्रके सब ग्रन्थ संस्कृत भाषामें ही थे। व्याकरण बिना पढ़े संस्कृत भाषामें प्रवेश हो ही नहीं सकता, अगत्या, संस्कृत-प्रेमियोंको व्याकरण पढ़ना ही पड़ता। सुतराम्, उस दुस्समयमें भी व्याकरणका अध्ययन अध्यापन बना ही रहा। हिन्दुओंके प्रायः सभी नित्य नैमित्तिक कार्य, धर्म-शास्त्रके अनुसार होते हैं। धर्म-शास्त्र विना पढ़े धर्म-कर्मकी विधि-व्यवस्था जाननेका दूसरा उपाय ही नहीं और धर्म-शास्त्रका अध्ययन अपेक्षा-कृत अल्प काल और अल्पायास-साध्य है। धर्म-सम्बन्धी व्यवस्था देने और धर्मानुष्ठानसे धर्म-शास्त्रियोंके पास कुछ द्रव्य भी आ जाता है।

इधर एक तो दर्शन-शास्त्रका अध्ययन ही दीर्घ-काल-साध्य,

दूसरे दार्शनिक पण्डितोंका समाजमें यथेष्ट आदर होनेपर भी धर्म-शास्त्रियोंके समान उनका नित्य प्रयोजन नहीं होता था। क्रमसे दर्शनका पढ़ना पढ़ाना बन्द होता गया। बीचमें अच्छे दार्शनिक तथा अन्यान्य विषयके पण्डितोंका आविर्भाव भी हुआ। किन्तु वह निर्वाणोन्मुख प्रदीपके समान, अचिर-स्थायी चमत्कार था! जो पूर्व प्रतिभाका शेष विकाशमात्र था।

सम्राट् अकबरके राज्यकालकी अवस्था।

अप्रासङ्गिक होनेपर भी इस जगह यवन-सम्राट् अकबरका नाम न लिखना भी असङ्गत है। बादशाह अकबर कई असा-धारण गुणोंके साथ भूमण्डलपर अवतीर्ण हुआ था। उसके जन्मके समय 'हुमायूं' के चित्तमें कस्तूरी बांटते समय जो आशा हुई थी, वह सम्पूर्ण रूपसे फलवती हुई। अकबरने अपनी असाधारण बुद्धिमत्तासे राज्य-शासनकी सुन्दर व्यवस्था की थी। जाति-विशेषका पक्षपात परित्यागकर उसने प्रजाका लालन पालन किया था। संस्कृत शास्त्रमें भी उसका बहुत कुछ अनुराग था। कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि,—अकबरके आदेशसे कुछ मुसलमान, नकली ब्राह्मण बनकर ब्राह्मण गुरुओंसे संस्कृत-शास्त्र पढ़े थे। कोई कोई अनुमान करते हैं, कि 'अल्लोप-निषद्' अकबरके समयमें किसी ऐसे ही शिक्षित मुसलमान वा किसी ब्राह्मण द्वारा रची गयी। किन्तु 'अल्लोपनिषद्' अथर्ववेदके सौभाग्य काण्डकी एक उपनिषद् है। उसका अर्थ भी अन्य प्रकार है। जो हो, अकबरको संतुष्ट करनेके लिये अनेक

विद्वानोंने ग्रन्थ बनाये थे, इसमें सन्देह नहीं। अकबरके संतोषार्थ उसके एक दरबारी बिहारी कृष्णदासने 'पारसीक-प्रकाश' नामक एक अद्भुत ग्रन्थ बनाया था। 'ताजिक' नामक प्रसिद्ध अदृष्ट-पूर्व ज्योतिष ग्रन्थ भी सम्भव है, उसके वा उसके किसी उत्तराधिकारीके उत्साहसे ही रचा गया होगा *। राजा रामदास कछवाहेने कवि कालिदासके बनाये 'सेतुबन्ध काव्य' की एक संस्कृत टीका बनाई है, जिसमें कुछ अकबरका भी वर्णन

---

* पारसीक-प्रकाश, एक कोश है। इसमें संस्कृत भाषामें बहुतसे 'पारसी' शब्दोंका अर्थ-संग्रह किया गया है। 'ताजिक' संस्कृत और 'पारसीक' शब्दोंके संयोगसे बना एक ज्योतिर्ग्रन्थ है। इन दोनों अद्भुत ग्रन्थोंकी रचना-प्रणाली दिखानेके लिये एक एक श्लोक उन ग्रन्थोंसे यहां उद्धृत किया जाता है :—

"माहश्चन्द्रे च मासे च गुरौ कयिणि मुश्तरी।
सिद्धान्ते पेषणे हल्लो मेहरः करुणार्कयोः॥"

(पारसीक-प्रकाश)

"यदा आफताबो भवेद्दुश्मनस्थोऽथवा चन्द्रपुत्रो गलिम्बक्स-युक्तः। यदा मुश्तरी मालखाना-गतः स्याद् भवेद् भूमिपालोऽथवा बादशाहः॥"

(ताजिक)

प्रथम श्लोककी व्याख्या अनावश्यक है। द्वितीय श्लोकका तात्पर्य लिखा जाता है। जिसके जन्मकालमें आफताब अर्थात् सूर्य, दुश्मनस्थ अर्थात् शत्रु-गृह-स्थित, बुध, गलिमबक्स अर्थात् राहुके साथ और मुश्तरी अर्थात् बृहस्पति, माल खाना-गत अर्थात् धन स्थानमें हो; वह मनुष्य भूमिपाल अर्थात् राजा अथवा बादशाह अर्थात् सम्राट् होता है।

है, उसके देखनेसे यह भली भांति सिद्ध होता है कि अकबरको साधारण हिन्दू प्रजा ही नहीं, प्रत्युत बड़े बड़े हिन्दू राजा महाराजा भी उसके उत्तम गुणों के हेतु, अवतार सदृश मानने लगे थे * । अकबर संस्कृत शास्त्रके व्यवसायियोंको सन्मानित

---

* आमेरोरासमुद्रादवति वसुमतीं यः प्रतापेन तावत् । दूरे गाः पाति मृत्योरपि करममुचत् तीर्थ-वाणिज्य-वृत्योः । अप्यश्रौषीत् पुराणं जपति च दिनकृन्नाम योगं विधत्ते । गङ्गाम्भोभिन्नमम्भो नच पिवति जयत्येष जल्लालुदीन्द्रः ॥१॥

अङ्गं वङ्गं कलिङ्गं सिलिहट-तिपुरा-कामता-कामरूपान्, अन्ध्रं कर्णाट-लाट-द्रविड़-मरहट-द्वारिका-चोल-पाण्ड्यान् ॥

भोट्टान्तं मारुवारोत्कल-मलय-खुरासान-खान्धार-जम्बू-काशी-काश्मीर-ढक्का-बलक्क-बद्खशां-काबिलान् यः प्रशास्ति ॥२॥

कलियुग-महिमापचीयमान-श्रुति-सुरभि-द्विज-धर्म्म रक्षणाय । धृत-सगुण-तनुं तमप्रमेयं पुरुषमकब्बरशाहमानतोस्मि ॥३॥

अर्थात् जो समुद्रसे मेरुतक पृथ्वीको पालता है, जो मृत्युसे भी गउओं की रक्षा करता है, जिसने तीर्थ और व्यापारके कर छुड़ा दिये, जिसने पुराण सुने, जो सूर्य्यका नाम जपता है, जो योग धारण करता है और जो गंगाजलको छोड़कर दूसरा पानी नहीं पीता, उस जल्लालुद्दीनकी जय हो ॥ १ ॥

अङ्ग, वङ्ग, कलिङ्ग, सिलहट, तिपुरा, कामता, (कामठी ?) कामरू, अन्ध्र, कर्णाटक, लाट, द्रविड़, महाराष्ट्र, द्वारका, चोल, पाण्ड्य, भोट, मारवाड़, उड़ीसा, मलय, खुरासान, कंदहार, जम्बू, काशी, ढाका, बलख, बदख्शां और काबुलको जो शासन करता है ॥ २ ॥

और उपाधि द्वारा भूषित भी करता था*। वह राज्य-शासनकी जो सुश्रृङ्खला स्थापन कर गया था, वह उसके स्वर्गवासी होनेके पश्चात् भी अनेक काल तक देशमें शान्ति रक्षा करनेमें समर्थ रही। अकबरकी राजनीतिके समान उसका संस्कृत अनुराग भी उसके साथ नष्ट नहीं हुआ, उनके उत्तराधिकारियोंमें भी बना ही रहा। जहांगीरके समय भी संस्कृतके अच्छे अच्छे ग्रन्थ रचे गये। शाहजहांकी प्रसन्नताके लिये वेदाङ्गरायने भी 'पारसीक-प्रकाश' नामक एक और ज्योतिष ग्रन्थकी रचना की थी†। अब तक भी गुजरातकी ओर कहीं कहीं मुसलमान, संस्कृत अध्ययन करते हैं।

कलियुगकी महिमासे घटते हुए वेद, गऊ, द्विज और धर्मकी रक्षा के लिये जिसने सगुण शरीर धारण किया है, उस अप्रमेय पुरुष अकबर शाहको मैं नमस्कार करता हूं ॥ ३ ॥

* कादम्बरीके टीकाकार भानुचन्द्रने इस ग्रन्थके मङ्गलाचरणमें लिखा है कि,—

"श्रीवाचकः सम्प्रति भानुचन्द्रः अकब्बर-क्ष्मापति-वृत्त-मानः ।"

इस ग्रन्थकी समाप्तिमें लिखा है :—

"पादिशाह-श्रीअकबर-प्रदापितोपाध्याय-पदधारक" ......इत्यादि।

भानुचन्द्रके शिष्य सिद्धचन्द्रने कादम्बरीके उत्तर भागकी टीका की है। उन्होंने समाप्ति पर अपना परिचय इस प्रकार दिया है :—

"श्रीअकबर-प्रदत्त 'षुस्युहमा' पराभिधान-महोपाध्याय"

......इत्यादि।

† 'पारसीक-प्रकाश' का प्रथम श्लोक यह है :—

"नत्वा श्रीभुवनेश्वरीं हरिहरौ लम्बोदरादीन् द्विजान् ।
श्रीमच्छाहजहां-नरेन्द्र-परमप्रीति-प्रसादाप्तये ॥

काल-क्रमसे अकबरके राज-सिंहासन पर अयोग्य राजा, सिंहासनारूढ हुए। राज्य-शासनमें न तो उनकी असाधारण क्षमता ही थी और न बलवती ईच्छा ही रही। कुछ कुछ भोग-विलासकी मात्रा भी बढ़ने लगी। राज-काजमें राजाकी दृष्टि न रहनेसे दरबारी लोग यथेच्छ व्यवहार करने लगे। शान्तिके स्थानमें अशान्तिका आसन आलगा। प्रजा नाना प्रकारके दुःख-कष्टसे व्याकुल होगई। अत्यन्त गरमी होनेसे ही वर्षा होती है; यह एक विधाताका नियम है। विधाताकी मङ्गलमय इच्छासे भारतका शासन-दण्ड अंग्रेजोंके हाथमें आया। राज-विप्लवके आरम्भमें जो सब झंझट वा दुःख अमिट हैं, अंग्रेजोंके राज्या-धिकारके आरम्भमें भी वे सब थोड़े बहुत हुए थे।

वर्तमान-समयकी अवस्था।

अंग्रेजी राज्यके सुशासनसे आजकल देशमें सर्वत्र शान्ति विराज रही है। अंग्रेजी शिक्षाके प्रभावसे देशमें युगान्तर उपस्थित होगया। अंग्रेज, स्वयं विद्वान् होनेसे विद्यानुरागी हैं। इस देशके आर्य लोग, परलोक-प्रधान थे, वे सर्वदा पारलौकिक विचारमें ही मग्न रहते थे। इस लोकके लिये उन्हें कुछ विशेष चिन्ता न थी। पृथ्वी तलपर कुछ दिन निवास करना है, चाहे जिस रीति से जीवनके दिन पूरे हो जायं, इसीमें उन्हें संतोष था। इस

कृत्वा संस्कृत-पारसीक-रचना-भेदप्रदं कौतुकं।
ज्योतिः शास्त्र-पदोपयोगि सरलं वेदाङ्गरायः सुधीः॥"

लोकके भोग-विलासमें फंसकर परलोक नष्ट कर लेना, उन्हें स्वीकार न था। (१) यह हम पहले ही कह चुके हैं कि उनका दर्शन, अध्यात्म-विद्या-विशेष था। अन्य कुछ न था।

योरपके विद्वानोंकी रुचि और प्रकारकी है। उन्होंने जितना परिश्रम और यत्न इस लोककी उन्नतिके लिये किया और कर रहे हैं, अध्यात्म विषयमें उतना यत्न करना, वे आवश्यक नहीं समझते। योरपके अधिकांश दर्शन वा विज्ञान इस लोकके विषयको लेकर बने हैं, सुतराम् वे भौतिक हैं। हमारे देशके अनेक विद्यार्थी योरपके दर्शन वा विज्ञानको अध्ययन कर तृप्त रहते हैं। देशीय दर्शन शास्त्रकी ओर उनका ध्यान ही नहीं। इतनाही नहीं—उनके विचारसे भारतीय दर्शनमें कोई सत्य और चिन्ताके योग्य विषय ही नहीं है। जो लोग इस देशके शास्त्रको न जानकर उसके सम्बन्धमें एक 'मनगढ़न्त' सिद्धान्त कर बैठते हैं, और उसी संस्कारको पुष्ट करते रहते हैं, वही लोग भारतके विद्वान् ब्राह्मणोंको गप्पी और 'पोप' कहकर घृणा करते हैं। यह बात एक 'तमाशे' की होनेपर भी दुःख-दायक है, इसमें सन्देह नहीं।

आजकल ईश्वरकी कृपासे स्रोत कुछ दूसरी ओर बहने लगा है। अंग्रेजी पढ़े विद्यार्थी समझने लगे हैं, कि संस्कृत शास्त्रमें सत्य है, विचारने योग्य विषयका भी अभाव नहीं है। इसका

---

(१) मनुष्यकी आयु बहुत थोड़ी है। पृथ्वीपर इसे थोड़े दिनों ही रहना है, यही सोचकर लोमश मुनिने अपने रहने लिये पत्तोंकी कुटिया का भी बना लेना आवश्यक नहीं समझा। आर्य्य लोग इस लोकमें ऐसी ही आस्था रखते आये हैं।

कारण यह है कि योरपके अनेक पण्डित संस्कृत-शास्त्रके अध्य-यनमें अपना अमूल्य समय व्यय कर रहे हैं। संस्कृत-शास्त्र पढ़ कर उसका अपूर्व रस लेरहे हैं। संस्कृत-शास्त्रमें नये नये विषय देखकर विस्मित होरहे हैं। संस्कृत-शास्त्रकी उत्तमता पर प्रबन्ध प्रकाश कर रहे हैं। गवर्नमेण्टने अपनी राजभाषाके साथ संस्कृत को भी शिक्षा-मन्दिरमें स्थान दिया है। उच्च संस्कृत-शिक्षाके लिये संस्कृत-विद्यालय स्थापन किये हैं। उपाधि-परीक्षाकी नयी सृष्टि रचकर विद्यार्थी और अध्यापकोंका उत्साह बढ़ाया है। सुयोग्य अध्यापक और पण्डितोंको उपाधि द्वारा सन्मानित किया है। बड़े यत्नके साथ हस्त-लिखित संस्कृत-पुस्तकोंकी रक्षा की है। हाथकी लिखी हुई संस्कृत पुस्तकोंकी सूची तैयार करनेके लिये बहुत द्रव्य व्यय किया है। "एसियाटिक सोसा-यटी" की सहायताके अतिरिक्त दूसरे उपायोंसे भी संस्कृत-पुस्तकें मुद्रित और प्रचारित की हैं।

अब सब लोग समझने लगे हैं, कि—संस्कृत-शास्त्र, अन्तः-सार-शून्य नहीं है। इसमें अनेक रत्न भरे पड़े हैं। इसमें जानने और विचारने योग्य बातोंकी न्यूनता नहीं है। क्योंकि श्रेष्ठ पुरुष जिस बातका आचरण करते हैं, और लोग भी उसीको करने लगते हैं। *

इसलिये देखा जाता है जि जो लोग अंग्रेजी विद्याके पूर्ण पण्डित हो चुके हैं, वही लोग अब संस्कृत विद्याके प्रचार और

---

* "यद् यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः" ।
(भगवद्गीता)

विचारमें अग्रसर हुए हैं। इनके द्वारा संस्कृत-विद्याका वास्तव में कहां तक उपकार होगा, इसका अनुमान करना अभी सहज नहीं है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं, कि इनका उत्साह और आन्दोलन प्रशंसनीय है।

देशीय वा जातीय विद्याका अनुशीलन एवं प्रचार करना प्रत्येक पुरुषका कर्तव्य है। जातीय विद्याके विचार और जातीय शास्त्रकी आलोचनाके बिना कोई भी जाति समुन्नत नहीं हो सकती। दूसरे सभ्य देशोंकी ओर दृष्टि करनेसे इस विषयके बहुत प्रमाण मिल सकते हैं। इस विषयमें मुसलमानोंका आचरण प्रशंसनीय है। वे लोग बिना अपनी जातीय विद्याके पढ़े, केवल राजकीय विद्याके अनुशीलनसे प्रसन्न नहीं होते।

सौभाग्यसे हमें राजा भी ऐसा मिला है, जो प्रत्यक्ष वा परोक्ष भावसे हमारे शास्त्रोंकी आलोचनाके लिये हमलोगोंको उत्साहित कर रहा है। पक्षपात-रहित योरपके पण्डितोंके आग्रहसे देशीय दर्शनादि शास्त्रके प्रति हम लोगोंका अनुराग अङ्कुरित और राजाके अनुग्रहसे पल्लवित हुआ है। अब इसे हमारी वर्तमान कृतविद्य-मण्डली अपने उद्योग और अध्यवसायसे पुष्प-फलसे सुशोभित करेगी, हमारी यह आशा निरी व्यर्थ नहीं है। अंग्रेजीके पढ़े लिखे बुद्धिमान् जब अपने देशीय दर्शनादि शास्त्रके सूक्ष्म-तम विषयकी पर्य्यालोचना करेंगे और पद-पदमें शास्त्रकारोंकी निस्सीम क्षमता और कौशल अवलोकन कर उनमें अकृत्रिम भक्तिभाव स्थापन करेंगे, तब इस देशमें विद्या-विषय-युगान्तरका प्रादुर्भाव होगा। उस समय इस देशके कृतविद्य, शास्त्र-तत्व

जाननेके लिये योरपवालोंके अनुवाद पर निर्भर न रहेंगे, स्वयं शास्त्रकी छान बीनकर उसके तत्वको जानेंगे । अहह ! यह कल्पना भी कितनी मधुर है ! जब हमारी यह कल्पना सचमुच कार्यमें परिणत होगी, उस समयकी मधुरिमा समझानेके लिये कोई उपाय नहीं है । उस शुभ दिनकी तुलना किससे करें ?

ऐसी आशा करना अनुचित नहीं, कि बहुतही शीघ्र वह शुभ दिन आवेगा । शुभ समयमें कृतविद्य पुरुषोंकी शुभ बुद्धि हुई है ।

इसके कार्यमें परिणत होनेसे देशका उपकार तो होगा ही, पर साथ ही विद्वान् भी कम लाभवान् न होंगे । देशीय वस्तु जबतक देशीय भाषामें प्रचारित न हो, तब तक उसे वे जान नहीं सकते, अपनी वस्तु आप पहचान नहीं सकते, दूसरेका परिचय और आदर देखकर पहचानना और आदर करनेकी शिक्षा करना, पढ़े लिखे लोगोंके पक्षमें प्रशंसाकी बात नहीं है ।

इस प्रकारके दृष्टान्त भी सर्वथा कम नहीं हैं, कि जो सिद्धान्त पहले योरपके पण्डितोंका आविष्कृत समझकर ग्रहण किया था, शास्त्र-पर्य्यालोचना करनेपर देखा गया, कि वह इस देशमें बहुत पहले समयसे आर्यजनोंको ज्ञात हो चुका था । पृथ्वीकी गति, गोलाई और निराधारता आदि इस विषयके सैकड़ों दृष्टान्त हो सकते हैं । जो हो । इस समय सर्वसाधारणमें देशीय विद्याके प्रचारका समय निकटवर्ती हुआ है, इतिहासमें उन महापुरुषोंका नाम सुवर्णाक्षरोंमें लिखा जाना चाहिये, जो इस आवश्यक विषयके प्रवर्तक और सहायकारी हैं । मङ्गलमय भगवान् उनका मङ्गल विचार पूरा करें ।

दर्शन-शास्त्र क्या नीरस और कठिन है ?

इस प्रवादकी समालोचना ।

जो लोग दर्शन-शास्त्रके विचारमें प्रस्तुत वा उत्सुक हैं, वे दर्शन-शास्त्र नीरस और कठिन है—इस प्रवाद-वाक्यको सुनकर मन्दोत्साह न हों—अब यही प्रार्थना है। प्रायः इस प्रकारके प्रवाद-वाक्योंकी उत्पत्ति, अपेक्षा-कृत मूर्ख लोगोंसे हुआ करती है। इससे किसी प्रवाद-वाक्यको सुनते ही उसपर अटल विश्वास कर लेना कदापि उचित नहीं है। और उसको यह समझना कि वह सर्वथा निर्मूल और असत्य है, यह भी अनुचित है। धीरतासे प्रवाद-वाक्यकी छान-बीन कर उसपर श्रद्धा वा अश्रद्धा करनी चाहिये। पूर्वोक्त प्रवादमें दो अंश हैं; प्रथम, दर्शन-शास्त्र नीरस है और द्वितीय, दर्शन-शास्त्र कठिन है। इन दोनों अंशोंकी भिन्न भिन्न आलोचना यहां करना हम उचित समझते हैं।

जिसमें रस हो, वह सरस और जिसमें रस नहीं, वह नीरस होता है—इस प्रवादांश द्वारा यह प्रतीत होता है, कि प्रवाद-स्रष्टाकी समझमें दर्शन-शास्त्रमें कोई भी रस नहीं है। किन्तु रस है, कि नहीं—इस विषयके विचारसे पूर्व यह जान लेना उचित है, कि रसका स्वरूप क्या है ? रस कहते किसको हैं ? इसका स्वरूप-ज्ञान वा प्रकृति-परिचय होनेके अनन्तर दर्शन-शास्त्रमें रसके होने न होनेका सहजमें निर्णय हो सकेगा। आलङ्का-

रिकोंके मतमें अलौकिक चमत्कार रसका प्राण वा सार है *। चमत्कार, एक प्रकारके आनन्द वा विस्मयका नाम है, जिसका दूसरा नाम चित्त-विस्तार भी है †। इससे यह सिद्ध होता है कि जिसके विचार वा अनुशीलनसे सुखानुभव या विस्मय उत्पन्न हो, वह सरस एवं जिसके विचार वा अनुशीलनसे सुखानुभव वा विस्मय उत्पन्न न हो, वह नीरस होता है। अब इसी स्थानपर "दर्शन-शास्त्र नीरस है" इस प्रवादांशकी दीवार बैठ जाती है। कारण, जो पुरुष दर्शन-शास्त्रका विचार करते हैं, उन्हें उससे बहुत आनन्द मिलता है, यह बात प्रत्यक्ष है। इस विषयमें सबसे अच्छा प्रमाण दर्शन-शास्त्रका विचार करने वाले लोग हैं। जो अङ्गरेजी शास्त्रमें कृत-विद्य हैं, वे देशीय दर्शन न सही, किन्तु योरपीय दर्शन अवश्य ही अध्ययन करते हैं। हमारा विश्वास है, कि योरपीय दर्शनके विचारसे उन्हें बहुत कुछ आनन्द मिलता है। विद्वान् पुरुष विद्या-रसका आस्वादन न कर सकें, यह कैसे हो सकता है? हम साहस-

---

* "लोकोत्तर-चमत्कार-प्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः। स्वाकार-वदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः॥ रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते।"

(साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद)

† "सुख-विशेष-पर्य्यवसित-चमत्कारं प्रत्यपि"......इत्यादि।

(शब्दशक्तिप्रकाशिका)

"चमत्कारश्चित्त-विस्तार-रूपो विस्मयापर-पर्य्यायः।"

(साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद)

पूर्वक इस बातको कह सकते हैं, कि शिक्षितमात्र हमारे कथन-का समर्थन करेंगे। इस बातको सभी साहित्यवेत्ता जानते हैं, कि सुहृद्-वियोग आदि विषय करुणारसके आलम्बन होते हैं, सुतरां वे केवल दुःखमय हैं, उनसे सुख नहीं मिल सकता। इस आपत्तिके खण्डनके लिये अलङ्कारवेत्ताओंने कहा है कि, करुणादि रसमें परमसुखका आविर्भाव होता है, सहृदय जनोंका अनुभव ही इस विषयमें प्रमाण है *।

हां, यह सच है, कि कोई कोई, दर्शन-शास्त्र अध्ययन करके भी सुखानुभव नहीं कर सकता। किन्तु रसमय काव्य शास्त्र अध्ययन करके भी तो कोई कोई रसानुभव नहीं कर सकता। इस कारण क्या काव्य शास्त्रको भी नीरस कहा जायगा? कदापि नहीं। दर्शन-शास्त्र पढ़नेपर भी सुखानुभव न होनेका कारण दर्शन-शास्त्रकी नीरसता नहीं है। किन्तु जो लोग सुखानुभव नहीं कर सकते, वे अपनी बुद्धिकी दुर्बलतासे दर्शन शास्त्रके प्रवेशाधिकारके लाभसे वञ्चित रहते हैं, अथवा उनके रस-विषयिणी वासना हो नहीं है। रस-विषयिणी वासनाके न रहनेसे रसका आस्वादन वा सुखानुभव नहीं हो सकता† काव्य-रचनाके लिये जिस प्रकार वीज-भूत शक्ति वा संस्कारकी

---

* "करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम्।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्॥"
(साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद)

† "न विद्यते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम्।"
(साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेद)

अपेक्षा है, काव्य समझनेके लिये भी उसी प्रकार बीज-भूत शक्ति वा संस्कार अपेक्षणीय हैं। इन दोनों शक्तियोंमें पहलीका नाम "कर्तृत्व-शक्ति" और दूसरीका "बोद्धृत्व-शक्ति" है। जिनको समझनेकी शक्ति नहीं है, उनके निकट अच्छे से अच्छा काव्य भी उपहासास्पद हैं * यह भी अलङ्कार-शास्त्रियोंका सिद्धान्त है। काव्यके विषयमें आलङ्कारिकोंने जो सिद्धान्त किया है, दर्शनशास्त्रके विषयमें भी वह सिद्धान्त पूर्ण रूपसे प्रयुक्त हो सकता है। इस लिये यह निश्चय होता है, कि दर्शन-शास्त्रके रसास्वादनमें असमर्थ पुरुष ही पूर्वोक्त प्रवादांशके स्रष्टा वा प्रचारक हैं।

दर्शन-शास्त्रमें अद्भुत रस है।

अब यहां यह प्रश्न हो सकता है, कि यदि दर्शन-शास्त्रमें रस है, तो उसका नाम क्या है? इसके उत्तरमें हमारा यही वक्तव्य है; कि उस रसका नाम अद्भुत रस हो सकता है। विस्मय वा चमत्कार जिस रसका स्थायी भाव हैं, साहित्यमें उसका नाम अद्भुत रस है†। स्वपक्ष-मण्डन और परपक्ष-खण्डन करते समय दर्शनकार जैसा अलौकिक कौशल और अद्भुत पाण्डित्य

---

* "शक्तिःकवित्व-बीजरूपः संस्कार-विशेषः। यां विना कवित्वं न प्रसरेत्। प्रसृतं वा उपहसनीयं स्यात्।"
(काव्यप्रकाश)

† "अद्भुतो विस्मय-स्थायि-भावो गन्धर्व-दैवतः।"
(साहित्यदर्पण-तृतीय परिच्छेद)

दिखा गये हैं, उसकी आलोचना वा विचार करनेसे अत्यन्त विस्मित वा चमत्कृत होना पड़ता है। किसी किसी आलङ्कारिकके मतमें रसमात्र ही अद्भुत है*। शृङ्गार, वीर, हास्य प्रभृति, अद्भुत रसहीके अवान्तर भेद हैं। दर्शन-शास्त्रके सम्बन्धमें जो कहा गया है, दूसरे शास्त्रोंके सम्बन्धमें भी वही कहा जा सकता है, क्योंकि सभी शास्त्रोमें असाधारण कौशल और पाण्डित्य दिखाया गया है। उनके विचारसे भी थोड़े बहुत चमत्कार वा विस्मयका आविर्भाव हो जाता है, सुतरां, अल्पाधिक परिमाणसे समस्त शास्त्रोंमें अद्भुत रस विद्यमान है। शृङ्गार-हास्य प्रभृति मन माने हुए कतिपय रस जिसमें न हों, उसको यदि नीरस कहकर परित्याग किया जाय, तब तो तत्-तत्-रस-प्रधान थोड़ेसे काव्योंको छोड़कर और कोई भी ग्रन्थ अध्येतव्य श्रेणीमें स्थान नहीं पा सकेगा।

दर्शन-शास्त्र कठिन है और उस काठिन्यका कारण।

दूसरा प्रवादका अंश यह है, कि "दर्शन-शास्त्र कठिन है"। शास्त्रोंमें दो कारणोंसे कठिनता हो जाती है, एक भाषाके कारण और दूसरी प्रतिपाद्य विषयकी गम्भीरता से। इस बातको सब विद्वान् जानते हैं, कि दर्शन-शास्त्रमें कुछ ऐसे अपूर्व पारिभाषिक शब्दोंका व्यवहार होता है, कि जिनका उच्चारण और प्रयोग दोनों

* "रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राप्यनुभूयते। तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राप्यद्भुतो रसः॥ तस्माददद्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्।" (साहित्य दर्पण, तृतीय परिच्छेदः)

ही नये विद्यार्थीके लिये कठिन हैं और वही शब्द दर्शन-शास्त्रकी भाषामें कठिनताको भी उपस्थित करते हैं। दर्शन-शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय भी अत्यन्त सूक्ष्म है, सुतरां, इस कारण विषय-गत काठिन्य भी यथेष्ट है। यह बात केवल दर्शन-शास्त्रमें नहीं है, चाहे जिस शास्त्रको देख लीजिये, पूर्वोक्त दोनों कारणोंसे सर्वत्र कठिनता मिलेगी। सभी शास्त्रोंमें कुछ न कुछ अश्रुत-पूर्व पारिभाषिक शब्द मिलेंगे और साथ ही प्रतिपाद्य विषयकी सूक्ष्मता भी। इस कारण थोड़े बहुत सभी शास्त्र कठिन हैं। किन्तु शास्त्रकारोंने जिस चतुरता और बुद्धिमत्तासे विचार-पूर्वक ग्रन्थ-रचना की है, उससे बहुत कुछ कठिनता दूर हो गई है। उस सुन्दर रचनाके कारण विद्यार्थी अपेक्षा-कृत थोड़ेसे परिश्रमसे उसी प्रकार सानन्द शास्त्रके तत्व तक पहुंच जाता है, जैसे सुन्दर सीढ़ियोंके कारण एक छोटा सा बालक ऊंचे महलपर।

कठिनताका चरम फल परिश्रमका आधिक्य है।

यदि कोई इस बात पर हठकर बैठे, कि "रचना-प्रणालीकी सुन्दरतासे दर्शन-शास्त्रकी कठिनता कुछ भी दूर नहीं हुई" तो तर्कके अनुरोधसे हम इसे भी स्वीकार करते हैं। हमारे कठिनता स्वीकार करने पर भी जिन्हें दर्शन-शास्त्रके विचारमें उत्कण्ठा हो रही है, उनके उत्साह-भङ्ग होनेका कोई कारण नहीं है। क्योंकि कठिनताका अन्तिम फल परिश्रमका आधिक्य है। जो विषय जितना कठिन है, उसके प्राप्त करनेको वैसाही परिश्रम करना

चाहिये। परिश्रमके बिना जगत्में कोई भी कार्य सम्पन्न नहीं होता। और यह समझकर कि मुझे इसमें परिश्रम करना होगा,—कोई पुरुष कर्तव्य कार्यका परित्याग नहीं करता। जिनको आलस्य-ने घेर रखा है, वही हतभाग्य परिश्रमसे डरकर दूर भागते हैं। एक ग्रन्थकारने किसी आलसी पुरुषका कथन उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य यह है, कि * "अध्ययन, दुःखका कारण है, इस प्रकारके दुःखकर अध्ययनको कौन कर सकता है?" किन्तु कृत-विद्य पुरुष इस प्रकारकी बातें सुनकर क्या हँसी रोक सकते हैं? जिस प्रकार घोरतर संग्रामको देखकर महावीर अर्जुन प्रसन्न होते थे † उसी प्रकार दर्शन-शास्त्रके प्रेमियोंको यह सुनकर अत्यन्त उत्साहित होना चाहिये, कि दर्शन-शास्त्रके पढ़नेमें अधिक परिश्रमकी आवश्यकता है।

परिश्रमके अनुसार वस्तुका उत्कर्षापकर्ष-विचार।

कसोटीके द्वारा जिस प्रकार सुवर्णके अच्छे बुरे गुणोंका ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार परिश्रमसे विषयके उत्कर्षाप-कर्षका ज्ञान हो सकता है। जिस विषयकी प्राप्तिमें जितना परिश्रम आवश्यक हो, उतना ही उस विषयको उत्कृष्ट वा उत्तम समझना चाहिये। कदाचित् अनायास-प्राप्त विषयका उत्कर्ष

* "आलसो वदति दुःखहेतुरेतदध्ययनं कोह्यतदध्येतुं शक्तः।"
(कातन्त्र)

† अतीव समरं दृष्ट्वा हर्षो यस्योपजायते।
(महाभारत)

भी देखनेमें आया करता है, परन्तु साधारणतः परिश्रमके अनुसार ही विषयका गुरुत्व (भारीपन) समझा जाता है। लोकमें इस विषयके बहुत दृष्टान्त मिलते हैं। धर्म्म, अर्थ, काम, मोक्ष, इन चार प्रकारके पुरुषार्थों में धर्म और मोक्षका उत्तरोत्तर उत्कर्ष ही इस विषयमें उत्तम दृष्टान्त है। धर्म बहुत परिश्रमसे सम्पन्न होता है, इसमें सन्देह नहीं, किन्तु मोक्ष बहुत भारी परिश्रमसे सिद्ध होता है—अनेक जन्म-परम्पराके परिश्रमसे प्राप्त होता है। सुतरां, मोक्षसे उत्तम वा मोक्षके तुल्य संसारमें दूसरी वस्तु ही नहीं।

परिश्रम वा कर्म मनुष्यका स्वाभाविक धर्म्म है।

ध्यान लगाकर यदि विचार-पूर्वक देखा जावे, तो यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकती है, कि मनुष्य स्वभावसे ही परिश्रम-शील है। परिश्रम करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म्म है। क्योंकि सांख्याचार्य्यों के मतमें मनुष्य "रजो-विशाल" अर्थात् रजो-गुण-प्रधान है * और रजोगुण चल अर्थात् क्रिया-शील है †। सुतरां रजःप्रधान मनुष्यके पक्षमें क्रिया अर्थात् किसी न किसी कार्यका अनुष्ठान स्वाभाविक है। छोटे छोटे दुग्ध-पोष्य बालकोंका निष्प्रयोजन हाथ पैर हिलाना, बालकोंका

---

* "मध्ये रजो-विशालः।" (सांख्यकारिका)

† "उपष्टम्भकं चलञ्चरजः।" (सांख्यकारिका)

लेना देना और सब वस्तुओंका उछालना फेंकना आदि निष्का-रण अनुष्ठान, युवा प्रौढ और वृद्ध पुरुषोंके हाथ-पैरकी चपलता तथा और और वृथा चेष्टाएं इसी कारणसे हुआ करती हैं। क्योंकि प्राकृतिक नियमके बिना स्वभावका बदलना बिल्कुल असम्भव है। सहस्रों शिल्प-निपुण बुद्धिमान् एकमत होकर, यदि सहस्रों युगों तक भी चेष्टा करें तो, क्या जलकी शीतलता, अग्निकी उष्णता, सूर्यकी प्रकाशकता और पवनके मनोहर स्पर्शको, वे लोग अन्यथा कर सकते हैं? कदापि नहीं। यही कारण है, कि सुषुप्ति-कालमें भी मनुष्यके श्वास-प्रश्वास और हाथ-पैर बार बार चलते देखे जाते हैं। स्वभाव कभी भी अन्यथा नहीं हो सकता। इसी कारण भगवान् श्रीकृष्ण देवने भगवद्-गीतामें कहा है :—

"नहि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्म्मकृत्।
कार्य्यते ह्यवशः कर्म्म सर्वः प्रकृतिजै गुणैः ॥"

"कभी भी कोई क्षण काल तक भी कर्म्म किये बिना नहीं रह सकता, क्योंकि प्रकृतिके गुण सब प्राणियोंको बलात् (मजबूरन्) कर्ममें नियुक्त करते हैं। इसलिये सब प्राणी अपनी अस्वाधीनतासे कर्म्म करनेको वाध्य (मजबूर) हैं।" इच्छासे हो, चाहे अनिच्छासे हो, जब मनुष्य कर्म बिना किये रह सकता ही नहीं, तब किसी अच्छे विषयमें परिश्रम करना चाहिये। यही शास्त्रकी आज्ञा है और यही हमारी प्रार्थना है।

परिश्रम स्वाभाविक होने पर भी समाधि हो सकती है।

कर्म्म वा परिश्रम, मनुष्यके लिये स्वभाव-सिद्ध है, इस सिद्धान्तमें कुछ आपत्ति भी उपस्थित हो सकती है, जिसे हम क्रमसे दिखाकर मीमांसित करना यहां उचित समझते हैं। प्रथम तो यह विचार करना चाहिये, कि निदिध्यासन वा समाधिका शास्त्रमें विधान किया गया है। समाधि-कालमें योगियोंका कुछ भी कर्म्म दिखायी नहीं देता। आसनसे शरीर निश्चल रहता है, कुम्भक द्वारा प्राण वायुकी क्रिया तक नियमित हो जाती है। सुतराम् कर्म्म स्वाभाविक होनेपर समाधि नहीं हो सकती और समाधि होनेपर कर्म्मकी स्वाभाविकताके साथ पूर्वोक्त सिद्धान्त नष्ट हो जाताहै। इस प्रकार जो दोनों पक्षमें दोष हो, उसे दार्शनिक पण्डित "उभयतःपाशा रज्जुः" कहा करते हैं। जिस रज्जु (रस्सी) के दोनों ओर बन्धन यन्त्र रहता है, उसे "उभयतःपाशा रज्जुः" कहा करते हैं। 'उभयतः पाशा रज्जु' के किसी ओर जानेका उपाय नहीं है। क्योंकि चाहे जिस ओर जाइये, बन्धनसे रक्षा होनी असम्भव है। पूर्वोक्त दोष भी इसी प्रकारका है, चाहे जिस प्रकारका अवलम्बन क्यों न किया जाय, दोषके हाथसे बचनेका उपाय ही नहीं।

इस आपत्तिके उत्तरमें हमारा यही कहना है, कि यद्यपि साधारण तरहसे स्वभावका बदल देना सामर्थ्यसे बाहर है, तथापि यत्न करनेसे कुछ कालके लिये स्वाभाविक धर्म्म रुक सकता है वा उसमें विरुद्ध धर्मका समावेश किया जा सकता है। जैसे अग्निकी दाहिका शक्ति, स्वभाव-सिद्ध है किन्तु एक

इस प्रकारकी मणि है, जिसके पास रखनेसे अग्निको दाहिका शक्ति (जलानेकी सामर्थ्य) तुरन्त रुक जाती है। तब अग्निके साथ चाहे जैसी दाह्य (जलने योग्य) वस्तुका संयोग करनेपर भी उसे वह कुछ भी नहीं जला सकेगी। सब जानते हैं, कि जलकी शीतलता, स्वभाव-सिद्ध है, तो भी अग्निके संयोगसे उसमें कुछ कालके लिये उष्णता (गर्मी) आ जाती है, या यों कहिये कि उसकी शीतलता बन्ध हो जाती है। एक प्रकारकी क्रिया द्वारा जलका स्वाभाविक द्रवत्व (बहाव) कुछ कालके लिये रुककर ओले वा बरफकी उत्पत्ति हो जाती है। इसी प्रकार कर्म्म मनुष्यका स्वभाव-सिद्ध होनेपर भी योग-शास्त्रोक्त उपाय द्वारा समाधि-कालमें वह रोका जा सकता है।

दूसरे, चाहे लौकिक उपाय द्वारा स्वभावका बदलना सामर्थ्यसे बाहर हो, किन्तु शास्त्रीय उपायके द्वारा असाध्य कुछ भी नहीं है। यह बात विज्ञ जनोंको विदित है, कि हमारी सब इन्द्रियां स्वभावसे ही विषय-प्रवण हैं अर्थात् विषयकी ओर दौड़ती हैं और हमारा मन भी स्वभावसे चञ्चल है, किन्तु शास्त्रोक्त शम, दमादि और ज्ञान द्वारा इन्द्रियोंकी विषय-प्रवणता और मनकी चञ्चलता निवृत्त हो जाती है। मनुष्य, स्वभावतः गुरु (भारी) और स्थूल होने पर भी लघिमा और अणिमा रूप योग-विभूति द्वारा इतना लघु (हलका) और इतना सूक्ष्म हो सकता है, कि चन्द्र-रश्मिके सहारे चन्द्र-लोकमें चला जाना और शिलामें प्रवेश करना उसके लिये कोई बड़ी बात नहीं। योग-शास्त्रोक्त सब विभूतियोंमें अविश्वास करनेका कोई कारण

नहीं है। क्योंकि, योग-सिद्धि द्वारा किसी एक विभूतिका लाभ कर लेनेपर शास्त्रीय समस्त विषयोंमें योगीका दृढ़तर विश्वास उत्पन्न होगा, इसी अभिप्रायसे योग-शास्त्रमें चित्तका परिकर्म और सब विभूतियोंका उपदेश किया गया है। इस विषयमें सैकड़ों प्रमाण दिये जा सकते हैं। किन्तु बाहुल्य-भयसे अधिक दृष्टान्त दिखाना उचित नहीं समझा।

समाधि-कालमें आभ्यन्तरीण कर्म्म विलुप्त नहीं होते।

तीसरे, कर्म्म वा परिश्रम दो प्रकारका है। एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तरीण। समाधि-कालमें बाह्य (बाहरी) कर्म्म न रहने पर भी आभ्यन्तरीण (भीतरी) कर्म्म बना रहता है। कुम्भक द्वारा प्राण वायुका आना जाना रुक जाता है, किन्तु अन्दर बराबर बना रहता है। यदि प्राण वायुका अन्दर सञ्चार न हो तो, शरीर दुर्गन्धमय हो थोड़े ही कालमें गल सड़ जाय। शरीर-धारण-प्रयत्न भी समाधि-कालमें बना रहता है। शरीर-धारण-प्रयत्न न रहनेसे योगीका शरीर भी गिर सकता है। प्राण वायुका आभ्यन्तरीण सञ्चार रहता है, तभी तो समाधि-कालमें योगियोंके एड़ीसे मस्तक पर्य्यन्त समस्त शरीरमें पिपोलिका (चिउंटी) के चलनेकी तरह एक प्रकारका स्पर्श अनुभूत होता है, एवं प्राण वायु, धमनी (रग-विशेष) में टकराकर घण्टा आदिकी ध्वनिकी नाईं एक प्रकारकी ध्वनिको उत्पन्न करता है, योगी जनही उसे अनुभव करते हैं। यह सब योग-शास्त्रमें विस्तारसे वर्णित हुआ है।

ज्ञान और मानसी क्रियाका भेद ।

समाधि-कालमें ध्येय वस्तुके यथार्थ स्वरूपकी जो परिष्फूर्ति हुआ करती है, वह ज्ञान है, जिसे प्रत्यक्षकी परा काष्ठा समझना चाहिये। वह क्रिया नहीं है। ज्ञान, कारण है और क्रिया, कार्य्य है।

आत्मा मनके साथ, मन इन्द्रियके साथ और इन्द्रिय विषयके साथ, संयुक्त होनेपर आत्मासे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है* । ज्ञान होनेपर उस विषयमें इच्छा होती है। इच्छा, कृति वा प्रयत्नको अर्थात् प्रवृत्ति वा निवृत्तिको उत्पादन करती है। प्रयत्न, चेष्टा वा कायिक व्यापारका जनक है। चेष्टासे क्रिया होती है † ।

जिस क्रियाका हमें ज्ञान होता है, उसीके विषयमें हमारी इच्छा होती है। अर्थात् ज्ञात विषय यदि उपादेय वा उत्तम समझा जाय, तो उसके संग्रह करनेकी इच्छा, और ज्ञात विषय यदि हेय वा निकृष्ट समझा जाय तो उसके त्याग करनेकी इच्छा होती है। अज्ञात विषयमें कभी भी इच्छा नहीं हो सकती। इच्छा, तदनुरूप प्रयत्नको उत्पादन करती है। प्रयत्न द्वारा चेष्टा होती है। चेष्टासे त्याग वा संग्रह सम्पन्न होता है। सुतराम्, इच्छा, क्रियाकी उत्पत्तिका हेतु है, वह स्वयम् क्रिया नहीं है।

---

* "आत्मा मनसा संयुज्यते, मन इन्द्रियेण इन्द्रियमर्थेन ।"
(न्याय-भाष्य)

† "ज्ञान-जन्या भवेदिच्छा, इच्छा-जन्या कृतिर्भवेत् ।
कृति-जन्या भवेच्चेष्टा, तज्जन्या च क्रियोच्यते । (कारिका)

ज्ञानका कारण ।

जिस प्रकार कहा गया है, उससे सिद्ध होता है, कि क्रिया, प्रयत्न-साध्य है, किन्तु ज्ञान, प्रयत्न-साध्य नहीं है। प्रत्युत ज्ञान, इच्छा द्वारा प्रयत्नका साधन है। प्रयत्न, चेष्टा द्वारा क्रियाका साधन है। सुतराम्, ज्ञान और मानसी क्रिया, प्रकाश और अन्धकारकी तरह दो अत्यन्त भिन्न पदार्थ हैं।

कदाचित् कोई क्रिया किसी ज्ञानकी प्रयोजक अर्थात् परोक्षभावमें वा व्यवहित रूपमें परम्परासे हेतु होने पर भी यह प्रयोजक क्रिया भी ज्ञान-जन्य और ज्ञानसे भिन्न है, इसमें भी कुछ सन्देह नहीं। प्रमाण द्वारा प्रमेयके यथार्थ स्वरूपके जानने का नाम 'ज्ञान' है। अर्थात् ज्ञान, ज्ञेय वस्तुके प्रकृत स्वरूपको अवलम्बन कर उत्पन्न होता है और उसीके स्वरूपको प्रकाशित करता है*।

मानसी क्रिया, वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षा नहीं करती। जैसे—पञ्चाग्नि-विद्यामें† पुरुष और स्त्री प्रभृति पांच वस्तुओंको अग्नि रूपमें चिन्ता करनेका उपदेश है। पुरुषादिमें अग्नि-बुद्धि मानसी क्रिया है, ज्ञान नहीं। कारण, कि मानसी क्रिया, पुरुष-प्रयत्न-साध्य है और उसमें वस्तुके स्वरूपकी अपेक्षा नहीं, तिस पर वह विधि-परतन्त्र है। प्रसिद्ध अग्निमें जो अग्नि-बुद्धि होती है, वह ज्ञान है, मानसी क्रिया नहीं। कारण, वह पुरुष-

---

* स्मरण रखना चाहिये, कि यथार्थ ज्ञानको लक्ष्य करके यह कहा है।

† छान्दोग्य उपनिषद् आदिमें पञ्चाग्नि-विद्याका उपदेश है।

प्रयत्न-साध्य नहीं, वह वस्तु-स्वरूपकी अपेक्षा करती है, वह वस्तु-तन्त्र है ।

मानसी क्रिया, वस्तु-तन्त्र नहीं, पुरुष-तन्त्र है। क्योंकि पुरुषादिमें अग्नि-बुद्धि करना पुरुषकी इच्छाके अधीन है। पुरुष, इच्छा करे तो पुरुषादिमें अग्नि-बुद्धि कर सकता है। किन्तु प्रसिद्ध अग्निमें इन्द्रिय-सम्बन्ध होनेपर जो अग्नि-बुद्धि उत्पन्न होती है, वह पुरुषादिमें अग्नि-बुद्धिकी नाईं पुरुषके इच्छाधीन नहीं। वह वस्तु-तन्त्र है। पुरुष, इच्छा न भी करे तो भी वह उत्पन्न होगी । सुतराम्, प्रसिद्ध अग्निमें अग्नि-बुद्धि, ज्ञान है, मानसी क्रिया नहीं। सिद्धान्त यह हुआ कि ज्ञान, वस्तु-स्वरूप-सापेक्ष है। मानसी क्रिया, वस्तु-स्वरूप-निरपेक्ष है। बुद्धिमानोंको ज्ञान और मानसी क्रियाके इस सूक्ष्म भेदका विचार करना चाहिये ।

कर्म्म करना मनुष्यका स्वाभाविक धर्म्म होने पर भी मुक्ति हो सकती है ।

कर्म्म वा परिश्रम मनुष्यका स्वाभाविक है, इस सिद्धान्तके विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह हो सकती है, कि कर्म्म मनुष्यका स्वाभाविक होने पर भी मुक्ति-लाभ करना असम्भव होजायगा । क्योंकि जब तक कर्म्म-बन्धनका अच्छी तरह उच्छेद न होगा, तब तक मुक्ति कैसे हो सकती है ? और दूसरे पक्षमें स्वाभाविक कर्म्म-बन्धनके समुच्छेदकी सम्भावना तक नहीं ।

इस आपत्तिका उत्तर पहिलेही दिया जा चुका है। लौकिक

उपाय द्वारा कर्म्म-बन्धनका समुच्छेद असम्भव होनेपर भी अलौकिक अर्थात् शास्त्रीय उपायसे कर्म्म-बन्धनके छिन्न भिन्न होनेमें कुछ भी बाधा नहीं। विशेष रूपसे विचार करनेपर प्रतीत होगा, कि दूसरी आपत्तिमें कुछ भी सार नहीं है। उसका कारण दिखाया जाता है।

मनुष्य शब्दका अर्थ शरीर है, आत्मा नहीं।

कर्म्म, मनुष्यका स्वभाव-सिद्ध है—इस सिद्धान्तमें मनुष्य शब्दके अर्थमें मन लगाना चाहिये। मनुष्य शब्दका अर्थ, संघात अर्थात् इन्द्रियादि-युक्त शरीर है। क्योंकि मनुष्यत्व, ब्राह्मणत्व आदि जाति वा धर्म्म, शरीर-गत हैं। आत्मा, संघात-संयुक्त होनेपर भी आत्मामें मनुष्यत्व वा ब्राह्मणत्व आदि जातियां नहीं हैं। जिस प्रकार नाट्यके समय नट तत्तद् वेश धारणकर किसी समय हरिश्चन्द्र, किसी समय युधिष्ठिर, किसी समय वत्सराज और किसी समय परशुराम प्रतीत होता है, उसी प्रकार आत्मा भी भिन्न भिन्न शरीर धारणकर किसी समय मनुष्य, किसी समय देवता और किसी समय पशु आदि रूपमें प्रतीत होता है। मैं मनुष्य हूं, मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि प्रतीति अध्यास-मात्र अर्थात् भ्रमात्मक ज्ञान है। संघात और आत्माके अन्धकार और प्रकाशके समान अत्यन्त भिन्न होनेपर भी दोष-प्रयुक्त यह भेद दिखलायी नहीं देता। प्रत्युत संघात और आत्मा-को एक कर मैं मनुष्य हूं, मैं ब्राह्मण हूं इत्यादि ज्ञान उत्पन्न

होते हैं। वास्तवमें आत्म-तत्व, ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि भेदसे परे हैं।

पहिले कहा जाचुका है, कि रजो-गुण, क्रिया-स्वभाव है। सुतराम्, रजः प्रधान मनुष्य भी क्रिया-स्वभाव है। शरीर, भौतिक पदार्थ होनेसे त्रि-गुणात्मक है। अर्थात् समस्त जड़वर्ग ही सत्व, रज और तम इन तीनों गुणोंका कार्य है। उपादेय वा कार्य्यके उपादान (कारण) के समान ही सब धर्म्म हुआ करते हैं, जैसे —घटका उपादान, मृत्तिका है अर्थात् मृत्तिका द्वारा घट बनता है, इसलिये घट भी मृत्तिकात्मक है। सुवर्णसे कुण्डल बनता है, इसलिये कुण्डल, सुवर्णात्मक है। तीनों गुणोंसे भूत और भौतिकका निर्माण होता है, इस हेतु भूत और भौतिक सब त्रि-गुणात्मक हैं। इनमें मनुष्य-शरीर, रजः प्रधान है, इससे वह क्रिया-स्वभाव है।

आत्मा, जड़ नहीं है ; चेतन-स्वरूप वा चेतन है। आत्मा, त्रि-गुणात्मक नहीं ; आत्मा, गुणातीत है। गुणातीत आत्माके क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि क्रिया, रजो गुणका कार्य्य है। पक्षान्तरमें शरीरकी मुक्ति नहीं होती, आत्माकी मुक्ति होती है। इसलिये कर्म्म, शरीरका स्वभाव-सिद्ध धर्म्म होनेपर भी आत्माके मुक्ति-लाभका कुछ भी व्याघात नहीं हो सकता है।

आत्मा निष्क्रिय है।

आत्मा, गुणातीत होनेसे निष्क्रिय है। नैयायिक मतसे क्रियाका जिस प्रकार कारण दिखलाया गया है, उसके अनुसार

भी आत्मामें क्रिया नहीं हो सकती। जिसका परिमाण, अप-कृष्ट अर्थात् किसी निर्दिष्ट देशसे परिच्छिन्न हो, उसे 'मूर्त' कहते हैं। मूर्तत्व (मूर्तपन) क्रियाका कारण है। मूर्त पदार्थ ही क्रियाका आश्रय है; मूर्त पदार्थमें ही क्रिया उत्पन्न होती है। शरीर, मूर्त है, सुतराम् क्रियाका आश्रय है। आत्मा, अमूर्त विभु और सर्व-व्यापक है, इसी लिये आत्मा; क्रियाका आश्रय नहीं है। अर्थात् आत्मा, निष्क्रिय है। यह विषय एक दृष्टान्तकी सहायतासे अच्छी तरह समझमें आ-सकता हैं।

गमन एक क्रिया है। उत्तर-देश-संयोगानुकूल व्यापारका नाम 'गमन' हैं। जो जिस जगह खड़ा है, उसकी अपेक्षा अन्य सारा ही देश उसके लिये उत्तर देश है। जिस व्यापार वा क्रिया द्वारा उत्तर देशके साथ संयोग सम्पन्न होता है, वही उत्तर-देश-संयोगानुकूल व्यापार वा गमन क्रिया है। यह गमन क्रिया मूर्त—अर्थात् जिसका प्रमाण किसी देश-विशेषमें सीमा-बद्ध हो, उसीके हो सकती है। क्योंकि, मूर्त पदार्थका ही पहली जगहसे संयोग नष्ट होकर देशान्तरके साथ संयोग होना सम्भव है। जो अमूर्त है— अर्थात् जिसका परिमाण, देश-विशेष-परिच्छिन्न नहीं है—जो विभु वा सर्व-देश-संयुक्त है, किसी प्रकार उसकी गमन क्रिया नहीं हो सकती। क्योंकि जो सब ठौर विद्यमान है, उसके पक्षमें देशान्तर वा उत्तर देश सम्भव नहीं हो सकता। आत्मा, अमूर्त वा विभु है, इसलिये आत्मा, निष्क्रिय है।

निष्क्रिय होनेपर भी आत्मा कर्म्मका फल भोगता है ।

यहां यह प्रश्न उठ सकता है, कि यदि आत्मा निष्क्रिय है तो, उसके कर्म्म भी नहीं, उसके बन्धन भी नहीं, उसके छेदन भी नहीं। सुतराम्, कर्म्म-बन्धन छिन्न होनेपर आत्मा मुक्त होता है, यह कहना अजात पुत्रके नाम-करणकी तरह अत्यन्त हास्यास्पद होता है। शरीरके कर्म्म द्वारा यदि आत्माका बन्ध हो, तब तो देवदत्तके कर्म्मसे यज्ञदत्तका बन्धन हो सकता है।

इसके उत्तरमें यह वक्तव्य है, कि शरीरके कर्म्मका आत्माके बन्धन-स्वरूप होनेमें कुछ भी बाधा नहीं है। क्योंकि शरीर और आत्माको एक करके—

'अहं स्थूलः, अहं कृशः, अहं करोमि, अहं गच्छामि'

अर्थात्—मैं स्थूल हूं, मैं कृश हूं, मैं करता हूं और मैं जाता हूं, ऐसे ऐसे सैकड़ों अध्यास वा मिथ्या ज्ञान वर्तमान हैं। शरीर और आत्माका जब अभेदाध्यास रहा है। तब शरीरका कर्म्म आत्माका बन्धन-स्वरूप होगा, यह कुछ आश्चर्यका विषय नहीं है। देवदत्त और यज्ञदत्तका अभेदाध्यास नहीं है। अर्थात्—आत्मा और देहको मिलाकर जैसे 'अहं मनुष्यः' इत्यादि अभेदाध्यास हैं, वैसे देवदत्त और यज्ञदत्तको मिलाकर देवदत्त वा यज्ञदत्तका अभेदाध्यास नहीं है। इसी लिये देवदत्तका कर्म्म यज्ञदत्तका बन्धन-स्वरूप नहीं है।

इस बातको सभी जन जानते हैं कि अध्यास वा मिथ्या ज्ञान सब अनर्थोंका मूल है। एक एक मिथ्या ज्ञानके कारण हम

लोगोंको अनेक प्रकारके कष्ट भोगने पड़ते हैं। किसी स्थानमें पुत्र आदिके कार्य्यके लिये पित्रादिको उसका दायी होना पड़ता है। संसर्गाध्यास (सम्बन्ध-ज्ञान) अर्थात् मेरा पुत्र मेरा कुटुम्ब इत्यादि मम-कार (ममत्व) उसका कारण है। सैनिक लोग युद्ध करते हैं और सैनिकोंका जय वा पराजय राजाका इष्ट वा अनिष्ट सम्पादन करता है। इसका कारण सैनिक लोगोंके प्रति राजाका ममत्व वा संसर्गाध्यास है। जिस राजाकी सैनिकोंके प्रति ममता वा संसर्गाध्यास नहीं है, सैनिकोंके जय वा पराजयमें उसका इष्ट वा अनिष्ट भी नहीं होता। जिन सैनिकोंमें जिस राजाकी ममता वा संसर्गाध्यास था, वैराग्यादिके कारणसे उसका वह अध्यास दूर होनेपर उन्ही सैनिक लोगोंके जय वा पराजयमें फिर उसका इष्टानिष्ट भी नहीं हुआ। राजर्षि जनकका तत्व-ज्ञानसे मिथ्याज्ञान अर्थात् अहंकार-ममता दूर हो गयी थी, तभी तो वे यह कहनेमें समर्थ हुए थे कि :—

"मिथिलायां प्रदीप्तायां न मे लाभो न मे क्षतिः ॥"

"मिथिला नगरी प्रज्वलित होनेपर हमारा लाभ भी नहीं, क्षति भी नहीं।" तत्व-ज्ञान द्वारा उभय-विध:अध्यास—अहंकार और ममत्वके दूर होनेपर शरीरके कर्म्म आत्माके बन्धन-स्वरूप नहीं हैं।

इसी लिये कहा गया है कि :—

"अश्वमेध-सहस्रेण ब्रह्म-हत्या-शतेन वा ।
पुण्य-पापैर्न लिप्यन्ते येषां ब्रह्म हृदि स्थितम् ॥"

"जिनके हृदयमें ब्रह्म है अर्थात् जिनको आत्म-तत्वका साक्षात्कार होचुका है, सहस्रों अश्वमेध और सैकड़ों ब्रह्म-बध करनेपर भी वे (लोग) पुण्य-पापसे लिप्त नहीं होते हैं।"

तात्पर्य यह है, कि वेदान्त प्रभृति दर्शनोंके मतमें वास्तवमें आत्माके कर्म्म-बन्धन नहीं है। मिथ्या ज्ञानके कारण आत्माका बन्धन है और मिथ्या ज्ञानके दूर होनेपर आत्माकी मुक्ति कही गयी है। इस पक्षमें आत्मा, सर्वदा ही मुक्त है। (इन सब विषयोंका यथास्थानमें वर्णन होगा) न्यायके मतमें प्रयत्न, आत्मा का गुण है, शरीरका गुण नहीं। क्रियानुकूल प्रयत्नका आश्रय, कर्ता है। शरीरमें क्रिया उत्पन्न होती है सही, किन्तु उस क्रियाका जनक प्रयत्न, आत्मामें रहता है। पहले आत्मामें प्रयत्न उत्पन्न होता है, पीछे उसी प्रयत्न द्वारा शरीरकी क्रिया सिद्ध हुआ करती है। इसलिये आत्मा, क्रियाका आश्रय न होनेपर भी क्रियाका कर्ता है।

क्रियाके किसी दूसरे पदार्थमें होनेपर भी क्रियाका कर्ता उसके अच्छे बुरे फलको अवश्य भोगेगा, इसमें कुछ सन्देह नहीं है। सब जानते हैं, कि पुरुषके प्रयत्न द्वारा बाण चलाया जाता है और वह चलाया हुआ बाण 'शिकार' आदिका बध करता है। अब यहां गति (चलना) क्रिया, बाणमें होनेपर भी पुरुष ही उसका कर्ता समझा जायगा। अर्थात्—उसके प्रयत्नसे बाणकी क्रिया उत्पन्न हुई है, वही बधका फल-भागी है, बाण, बधका फल-भागी नहीं। इसी प्रकार क्रियाके शरीर-समवेत होनेपर भी शरीर, क्रियाका फल-भागी नहीं; क्रियाका कर्ता

आत्माही उसका फल-भागी है। निदान, न्यायके मतमें शरीर-समवेत क्रिया, आत्माकी बन्धन-स्वरूप होगी, इसमें कुछ भी आश्चर्यका विषय नहीं है।

आत्माका कर्तृत्व।

"कर्ता, शास्त्रार्थवत्वात्"(१)—इत्यादि सूत्रोंसे वेदान्त-दर्शनमें भी आत्माका औपाधिक कर्तृत्व अङ्गीकार किया गया है। सांख्याचार्योंके मतमें कर्तृत्व, गुणका धर्म हैं, आत्माका धर्म नहीं। उनके मतमें कर्तृत्व (कर्तापन) गुणका धर्म होने पर भी और आत्मा, सम्पूर्ण उदासीन वा मध्यस्थ होनेपर भी वह (आत्मा) कर्ताकी तरह प्रतीयमान होता है। इसका कारण यह है, कि बुद्धि त्रि-गुणात्मिका है और ये यत्नादि, बुद्धिके धर्म्म हैं। बुद्धि, विशेष भावसे आत्माके समीप है। इस कारण आत्मा, बुद्धिमें प्रतिविम्बित होता है। इस सन्निधान (समीपता) वा चिच्छायापत्ति-(उसमें चेतन आत्माकी छाया पड़ने-) से संयोगके अधीन अचेतना (जड़) बुद्धि, चेतन की नाईं प्रतीत होती है। जैसे—मुंहपर मलिनता न रहनेपर भी मलिन दर्पणमें उसका प्रतिविम्ब पड़नेपर दर्पणकी मलिनता मुखमें आरोपित होती है, वैसे ही वास्तवमें आत्माको कर्तृत्व न रहनेपर भी बुद्धि-धर्म्म, कर्तृत्व-बुद्धि-प्रतिविम्बित आत्मामें आरोपित होते हैं। भगवान्‌ने भी भगवद्-गीतामें श्रीमुखसे कहा है :—

---

(१) वेदान्त दर्शन २।३।३१।

"प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्म्माणि सर्वशः
अहंकार--विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥"

"सभी कर्म्म, प्रकृतिके गुणोसे किये जाते हैं। आत्मा, अहंकार-विमूढ (अर्थात्—इन्द्रियादिमें आत्माध्यास द्वारा विमूढ़) हो अपनेको कर्ता मान बैठती है।" बुद्धि-धर्म्मका आत्मामें आरोप होता है। इससे आत्मामें संसार और दुःखके भोगका व्यपदेश होता है।

तत्व-ज्ञानसे संचित कर्म्मोंका बीज-भाव नाश होता है।

तत्व-ज्ञान होनेपर यह कर्म्म-बन्धन छिन्न हो जाता है। कारण, तत्व-ज्ञान, सञ्चित-कर्म्मों का विनाश वा बीज-भाव नष्ट कर देता है। कर्म्मों का बीज-भाव नष्ट होनेपर कर्म्म, विद्यमान रहने पर भी फल उत्पादन नहीं कर सकते। क्योंकि मिथ्या ज्ञान, कर्म्म-फलका सहकारी कारण हैं। जिसको आत्म-तत्वका साक्षात्कार हो गया है, उसके सञ्चित-कर्म्म-रूप कारण रहनेपर भी मिथ्याज्ञान-रूप सहकारी कारण नहीं है, इसलिये कर्म्म-फल उत्पन्न नहीं होगा। इस विषयमें शास्त्रमें एक सुन्दर दृष्टान्त दिखाया गया है, वह यह हैं कि :—

"मिथ्या-ज्ञान-सलिलावसिक्तायामात्म-भूमौ कर्म्मबीजं फलाङ्कुरमारभते, नतु तत्व-ज्ञान-निदाघ-निपीत-सलिलायामूषरायामपि (१)।

---

(१) चन्द्रशेखर, वाचस्पति, भामति आदि ग्रन्थोंमें इसके समानार्थक वाक्य हैं।

बीज, अङ्कुरोत्पत्तिका कारण है, यही समझकर कोई निर्जल शुष्क भूमिमें बीज बोने लगे तो एक भी अङ्कुर उत्पन्न न होगा। किन्तु जिस भूमिमें जल सींचा हुआ है, वही अङ्कुरोत्पत्तिका उपयुक्त स्थान है। उपस्थित विषयमें कर्म्म बीज, आत्मा भूमि, मिथ्याज्ञान जल, फल अङ्कुर, तत्व-ज्ञान निदाघ (ग्रीष्म ऋतु वा तेज धूप) के रूपमें वर्णित हुए हैं। ऊपर कहे हुए वाक्यका यह अर्थ निष्पन्न होता है, कि मिथ्या ज्ञान जलसे सींची हुई, आत्म-रूप भूमिमें ही कर्म-रूप बीज, फल-रूप अङ्कुरको उत्पादन करता है। तत्व-ज्ञान-रूप निदाघ द्वारा जिसका मिथ्या-ज्ञान-रूप जल शुष्क हो चुका है, वैसी शुष्क ऊषर (बंजड़ वा पटपर) रूप आत्म-भूमिमें कर्म्म-फल उत्पन्न नहीं होता।

प्रसङ्ग-क्रमानुसार प्रस्तावित विषयसे कुछ दूर आ गये हैं, अब फिर प्रस्तावित विषयका अनुसरण किया जाता है। परिश्रमकी कर्तव्यताके विषयमें आगे कही हुई आपत्ति उठ सकती है। परिश्रम करनेसे कष्ट वा दुःख होता है, यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। दुःख, स्वभावसे द्विष्ट अर्थात् द्वेषका विषय है। कोई दुःखको नहीं चाहता है। सभी दुःखको बुरा मानते हैं।

प्रवृत्ति और निवृत्तिका कारण।

द्विष्ट साधनता-ज्ञान, निवृत्तिका कारण है। इसलिये परिश्रममें प्रवृत्ति न होकर उससे निवृत्ति ही हो सकेगी। इसमें यह

आशङ्का हो सकती है कि द्विष्ट-साधनता-ज्ञान जैसे निवृत्तिका कारण है, इष्ट-साधनता-ज्ञान उसी प्रकार प्रवृत्तिका कारण है। इच्छाके विषयका नाम इष्ट है, अर्थात्—जिसको प्राप्त करनेके लिये इच्छा हो उसका नाम 'इष्ट' है। जिसके द्वारा अभिलषित वस्तुका लाभ हो, उसको 'इष्ट-साधन' कहते हैं।

परिश्रमकी उपकारिता।

परिश्रम द्वारा अभिलषित (चाही हुई) वस्तुका लाभ होता है, इसलिये परिश्रम, इष्ट-साधन है। सुख और दुःखाभाव ही सहजमें इच्छाके विषय हुआ करते हैं। परिश्रम द्वारा सुख और दुःखाभाव सम्पन्न होते हैं। अतएव परिश्रमकी द्विष्ट-साधनताको देखकर जैसे उस विषयसे निवृत्ति होसकती है, उसी प्रकार इष्ट-साधनताको जानकर प्रवृत्ति भी तो हो सकती है? इसके उत्तरमें वक्तव्य यही है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति परस्पर-विरुद्ध पदार्थ हैं। एक विषयमें, एक कालमें, एक पुरुषकी परस्पर-विरुद्ध प्रवृत्ति और निवृत्ति होनीं बिल्कुल असम्भव हैं। केवल इष्ट-साधनता-ज्ञान, प्रवृत्तिका एवं द्विष्ट-साधनता-ज्ञान, निवृत्तिका कारण होनेपर प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनोंको ही विषय-लाभ दुर्घट है। कारण ऐसा कोई विषय ही नहीं जो निरवछिन्न (लगातार) सुख वा दुःखका सम्पादन करे। सभी विषय थोड़े बहुत दुःखके साधन होते हैं। कविने यथार्थ कहा है कि :—

"दृष्टं किमपि लोकेऽस्मिन् न निर्दोषं न निर्गुणम्"

सुखके सम्पादनमें प्राणिमात्रकी प्रवृत्ति स्वाभाविक है। अमिलषित शब्दादि विषयोंमें इन्द्रियोंका सम्बन्ध होनेसे सुखकी उत्पत्ति हुआ करती है। अभिमत विषयमें इन्द्रियोंका सम्बन्ध, इन्द्रिय-परिचालना-सापेक्ष है। अर्थात्—जबतक इन्द्रियको अभिमत विषयमें नियुक्त नहीं किया जाता है, तबतक सुख नहीं मिलता। अनेक स्थलोंमें अभिमत विषयके सहित इन्द्रियोंका सम्बन्ध चेष्टाकी अपेक्षा रखता है। जो लोग अभिनय (नाटक) देखने और गाना सुननेके सुखको अनुभव करते हैं, वे लोग नाट्यशाला (थियेटर) में जाकर अभिमत विषयके साथ इन्द्रियोंका सम्बन्ध सम्पादन-पूर्वक सुखानुभव किया करते हैं। इसमें बहुतसे दृष्टान्त देनेका प्रयोजन नहीं। चित्त लगाकर जरा विचार करनेसे सब समझ सकेंगे, कि प्रत्येक सुख-साधनके साथ अन्ततः कुछ न कुछ दुःख, अपरिहार्य (जो दूर न हो सके) रहेगा। निश्चेष्ट भावसे रहकर कभी भी विषय-ग्रहण नहीं किया जाता। अन्ततः शारीरिक शक्तियोंकी परिचालना आवश्यक है। कुछ न कुछ हिलना पड़ेहीगा। इष्ट-साधनता-ज्ञानमात्र, प्रवृत्तिका और द्विष्ट-साधनता-ज्ञान-मात्र, निवृत्तिका कारण होनेपर प्रवृत्ति और निवृत्ति एक प्रकार असम्भव हो जाती हैं। इसीलिये आचार्यों ने सिद्धान्त किया है कि इष्ट-साधनता-ज्ञान, प्रवृत्तिका कारण है सही, किन्तु बलवद्-द्विष्ट-साधनता-ज्ञान, उसका प्रतिबन्धक (रोकनेवाला) है। जिस विषयमें उत्कट वा अत्यन्त द्वेष हो उसका नाम बलवद्-द्विष्ट है। मधु और विष-मिश्रित अन्नके भोजन विषयमें किसीको भी प्रवृत्ति नहीं

होती। मधु-मिश्रित अन्न सुस्वादु है। उसका भोजन इष्ट-साधन होनेपर भी विष-मिश्रित अन्नका भोजन, बलवद्-द्विष्ट-साधन है। क्योंकि विष-मिश्रित अन्नसे मृत्यु हो सकती है। मृत्यु; बलवद्-द्विष्ट है। इसीलिये मधु-मिश्रित अन्नके भोजनमें प्रवृत्ति नहीं होती। इष्ठ-साधनता-ज्ञानमात्र, प्रवृत्तिके प्रति-कारण होनेसे मधु-विष-मिश्रित अन्नके भोजनमें भी प्रवृत्ति हो सकती है। किन्तु वह होती नहीं। इसी कारण बलवद्-द्विष्ट-साधनता-ज्ञान, प्रवृत्तिका प्रतिबन्धक रूप माना गया है। जिस विषयमें उत्कट वा अतिशय अभिलाषा उत्पन्न हो, उसको बलव-दिष्ट (बहुत भारी प्रिय) कहते हैं। बलवदिष्ट-साधनता-ज्ञान, निवृत्तिका प्रतिबन्धक न होता तो, पाकादिमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, वरं निवृत्ति होना ही मङ्गल है। क्योंकि पाक करनेमें कष्ट होता है। सुतराम्, पाकको द्विष्ट-साधनता है, किन्तु पाक में बलवद्-इष्ट-साधनता भी है। इसलिये रसोई बनानेमें निवृत्ति नहीं होती, प्रवृत्ति ही होती है। क्योंकि रसोई बनाकर भोजन करनेसे जो तृप्ति वा सुख होता है, वह बलवद्-इष्ट है। इष्ट और द्विष्ट-गत बलवत्त्व, स्वभावतः व्यवस्थित नहीं है। अर्थात्—जिसे हम चाहते हैं और जिसे हम नहीं चाहते, उन दोनोंमें (सबसे भारी प्रियता वा अप्रियता रूप) 'बलवत्ता' कुछ स्वा-भाविक नहीं है। अवस्था और रुचिके भेदसे उसका सर्वत्र विचार हुआ करता है। एक पदार्थ, जो किसी अवस्था-विशेषमें बलवद् इष्ट अर्थात् सबसे प्यारा समझा जाता है वही पदार्थ दूसरी अवस्थामें अन्यथा हो जाता है। इसलिये

हमारे प्रसिद्ध दार्शनिक कवि श्रीहर्षने बहुत यथार्थ कहा है कि :—

"भिन्न-स्पृहाणां प्रति चार्थमर्थं।
द्विष्टत्वमिष्टत्वमपव्यवस्थम्॥"

सब जानते हैं कि हाथ पैरका कटाना सबसे बुरा है, किन्तु अवस्था-विशेषमें वह बुरा न लगकर उलटा अच्छा लगता है। जब हाथ पैरमें कोई इस प्रकारका क्षत तथा फोड़ा फुन्सी होजाय कि विना उसके कटाये जीवन-रक्षाका कोई दूसरा उपाय नहीं, तब जीवन-रक्षाके लिये हाथ पैर कटानेमें भी कोई संकोच नहीं करता। तब जीवन-रक्षाको बलवद् इष्ट समझा जाता है और हाथ पैर बलवद्-द्विष्ट अर्थात् सबसे बुरे लगते हैं। इस प्रकार के लोग भी बिल्कुल विरले नहीं हैं, जो जीवन-रक्षाके लिये भी हाथ पैर कटाना नहीं चाहते। वे समझते हैं कि मनुष्यकी मृत्यु अवश्य होनहार है। मरना सभीको होगा, सुतराम्, थोड़ेसे दिनोंके लिये हाथ पैर कटाना ठीक नहीं है। शूरवीर लोग शत्रुके ऊपर जय-लाभ करना इतना अच्छा समझते हैं, एवं बड़े आदमी यशको इतना प्यार करते है कि उसके लिये वे लोग शरीर-रक्षाका कुछ ध्यान ही नहीं करते। किसी कविने कहा है :—

"चिन्ता यशसि न वपुषि प्रायः
परिदृश्यते महताम्।"

अधिक दूर जानेका कुछ काम नहीं है। क्षुधासे व्याकुल होकर शरीर-रक्षाके लिये सभी लोग भोजन करते हैं। भोजन कुछ अल्प-परिश्रम-साध्य नहीं है। हाथका हिलाना, मुखका हिलाना और फिर मुखके पदार्थको गलेसे नीचे उतारनेमें जो परिश्रम होता है, वह किससे छिपा हुआ है। बहुतसे पुरुषोंको भोजन-कालमें पसीना आने लगता है, तथापि वे भोजनसे निवृत्त नहीं होते और फिर दो दुःख बलवद् द्वेषके विषय होने-पर भी समय विशेषमें उनमें एक दुःख विशेष रूपसे विद्विष्ट हो जाता है। तब इस दुःखको दूर करनेके लिये दूसरा दुःख अङ्गीकार किया जाता है। उस समय वह बलवद्-द्विष्ट दिखायी नहीं देता। क्षणिक सुखकी लालसामें लोग कितने कष्टको स्वीकार कर लेते हैं, यह तो सभी जन जानते हैं। इसका कारण भी है। वस्तुके अभावसे वस्तुका गौरव बढ़ जाया करता है।

मनुष्य रजोगुण-प्रधान है, यह प्रथम ही कह चुके हैं। दुःख, रजोगुणका परिणाम-विशेष है। सुतराम्, मनुष्य दुःखमें बंधा हुआ है, यह कहना कुछ बढ़ावेकी बात नहीं है। सुख, सत्व गुणका कार्य्य है। मनुष्यमें सत्व गुण रहने पर भी वह प्रधान नहीं है। मनुष्यको दुःख जिस प्रकार सुलभ है, सुख उस प्रकार सुलभ नहीं। किन्तु सुखकी मोहिनी शक्ति अतुलनीय है। सुखकी प्रत्याशा, अन्तः करणमें अनिर्वचनीय उत्साहको उत्पन्न करती है। भूताविष्टकी तरह दिग्-विदिक्-ज्ञान-शून्य हो सब मनुष्य, सुखके लिये व्याकुल हो रहे हैं। साधारण सेतु

जैसे जलके प्रबल प्रवाहको नहीं रोक सकता, वैसेही सब वाधा-विघ्न, उस कालमें मनुष्यके उत्साह उद्यमको रोकनेमें समर्थ नहीं होते। तब यह कष्टको कष्ट नहीं समझता। मनको लगा अध्यवसायके साथ परिश्रम करनेमें प्रवृत्त होता है। इसीलिये किसी कविने कहा है कि :—

"नहि सुखं दुःखैर्विना लभ्यते ।"

इस जगह सुख शब्दका एक-वचनान्त और दुःख शब्दका वहु-वचनान्त प्रयोग करके कविने अपनी सूक्ष्मदर्शिताका परिचय दिया है। ध्यान धरके देखनेसे प्रतीत होता है कि कविका वाक्य यथार्थ है। इसमें अत्युक्तिका लेशमात्र भी नहीं है। सचमुच एक एक सुख लाभ करनेके लिये हम लोगोंको अनेक प्रकारके दुःख कष्ट सहने पड़ते है। दुःखका कोड़ा न लगता तो जगत्‌में सुखका इतना आदर होता कि नहीं, यह सन्देह है। प्रति-पक्ष वा विरोधीके विना किसी भी पदार्थका गौरव प्रकट नहीं होता। अन्धकार जैसे प्रकाशके गौरव और उपादेयताका कारण है। अर्थात् अन्धकारकी गहरी अन्धेरीका तारतम्य (खूबी) जैसे प्रकाशके उपादेयता—(जरूरत) तारतम्यको सम्पादन करता है, उसी प्रकार दुःख, सुखके आदर और उपादेयताका कारण है कि नहीं, यह भी विचारना चाहिये।

"सुखं हि दुःखान्यनुभूय शोभते ।
घनान्धकारेष्विव दीप-दर्शनम् ॥"

घोर अन्धकारमें दीप-दर्शनके तुल्य अनेक दुःखोंके अनुभवके

पीछे सुख शोभा पाता है। इस कथन द्वारा कविका भी वही अभिप्राय है कि नहीं, विद्वान् लोग इसका भी विचार करें। धन-सञ्चय करनेसे सुख, स्वच्छन्दतासे होगा, इस आशामें पागल होकर धनार्ज्जनके लिये संसारमें कितने ही कष्ट उठाये जाते हैं। अधिक क्या; जिस शरीरकी वा जीवनकी सुख-स्वच्छदता सम्पादनके लिये लोग धनार्ज्जनके लिये प्रवृत्त होते हैं, धनोपार्ज्जनके पीछे लगकर उस कालमें उस शरीर वा जीवनकी ओर भी दृष्टि नहीं करते। धन कमानेके लिये शरीर वा जीवनको भी विसर्जन कर बैठते हैं। यह मोहान्ध मनुष्यका अनुरूप कार्य्य है। सुखकी मोहिनी शक्तिका उज्वल दृष्टान्त है! अधिक दृष्टातोंका प्रयोजन नहीं है। सुखकी लालसामें कष्ट भोगना और सुभीता करनेके लिये अनेक झञ्झट झेलना, सबका काम हो रहा है। प्रत्येक मनुष्य इस विषयके सैंकड़ों दृष्टान्त जानता है। अत्यन्त परिश्रम करने और दुःख सहनेके बाद चाही हुई वस्तुके मिलनेपर जिस आनन्दका अनुभव होता है; उसकी तुलना नहीं है। अभिलषित वस्तुके लाभका ऐसा ही माहात्म्य है, कि परिश्रमका फल मिलने पर परिश्रमका क्लेश उसी क्षण नष्ट हो जाता है और उसका स्मरण भी फिर कदाचित् ही हुआ करता है। मनमें नवीन स्फूर्त्तिका आविर्भाव होता है। कविवर कालिदासने यथार्थ कहा है कि :—

"क्लेशः फलेन हि पुनर्नवतां विधत्ते"

इस परिश्रमके विना अनायास-लब्ध वस्तुके लाभमें भी

आनन्द होता है; इसमें सन्देह नहीं, किन्तु परिश्रमसे मिली हुई वस्तुके लाभ में जो आनन्द होता है; वह उसकी अपेक्षा सहस्र गुण अधिक है, इसमें भी कुछ सन्देह नहीं। अनायास—लब्ध पदार्थकी अपेक्षा परिश्रम-लब्ध वस्तु मनस्वी पुरुषोंको अधिक प्यारी और आदरणीय हुआ करती है। संसारमें अभाव वा आवश्यकताकी कमी नहीं है और परिश्रमके विना एक भी आवश्यकता पूर्ण नहीं हो सकती। सुतराम्, परिश्रमकी उपकारिता और आवश्यकता सर्व-वादि-सिद्ध है, तात्पर्य यह है कि परिश्रम पहले पहल दुःख-प्रद होनेपर भी परिणाममें वह असीम सुखका कारण होता है।

अतिसामान्य अभाव वा आवश्यकता भी जब बिना परिश्रमके परिपूर्ण नहीं होती, तब दर्शन-शास्त्रके अनुशीलनका अभाव विना परिश्रम वा सामान्य परिश्रममें परिपूर्ण होगा, इस प्रकारकी कल्पना भी असङ्गत है। आलस्य-ग्रस्त और सामान्य पुरुषोंकी बात अलग है। महापुरुषोंका अन्तःकरण सर्वदा ऊंचे लक्ष्यकी ओर दौड़ता है! वे लोग कभी भी सामान्य विषयमें तृप्त नहीं होते। क्रमोन्नति यदि मनुष्यका प्राकृतिक नियम है, तब मनुष्य उच्चसे उच्चतर तथा उच्चतरसे उच्चतम विषयको लक्ष्य और अवलम्बन करेगा, और लक्ष्यकी उच्चता हो मनुष्यके महत्वकी परिचायक होगी, यह भी एक प्राकृतिक नियम मान कर स्वीकार करना होगा।

परिश्रम यदि वस्तुको उपादेयता या उत्कर्षका परिमाण—निर्देशक है; तब तो दर्शन-शास्त्रका अनुशीलन अधिक-परिश्रम-

साध्य है—इस कहनेसे दर्शन-शास्त्र अधिक उपादेय वा उत्कृष्ट है, यह निःसङ्कोच कहा जा सकता है। यह हम पहले कह चुके हैं कि परिश्रम-लब्ध वस्तुही मनस्वी लोगोंको अधिक प्रीति-प्रद होती है। जो बुद्धिमान् मनुष्य पृथ्वीतलपर रहकर 'द्युलोक' की ज्योतिष्क-मण्डली (नक्षत्रादि) के आकार, संस्थान, गति, स्थिति प्रभृति अनेक विषयोंको निर्णय करनेमें समर्थ हो रहे हैं, आकाशकी बिजली जिनके बुद्धि-बलसे वशीभूत हो दासीकी तरह आज्ञापालन कर रही है। रसोई बनानेके समय, वाष्पके कारण, टोकनीका ढकना हिलता देखकर, जिन्होंने इस मामूली घटनाके सहारे बड़े बड़े आश्चर्यके काम कर दिखाये और दिखा रहे हैं, स्वाभाविक कर्म्म-बन्धन को छिन्न भिन्न करते हुए मुक्तिके लाभके लिये जो 'अष्टाङ्ग योग' के अनुशीलन करनेमें कुण्ठित नहीं होते हैं, उन बुद्धिमान् मनुष्योंके सम्बन्धमें दर्शन-शास्त्रके अनुशीलनका परिश्रम—

"निपीत-कालकूटस्य हरस्येवाहि-खेलनम्।"

कहनेसे कुछ अत्युक्ति न होगी। दूसरे लोग जिसको कर सकते हैं, हम लोग उसे चेष्टा करनेपर भी न कर सकेंगे? हमारे पूज्यपाद पूर्वज जिस दर्शन शास्त्रकी सृष्टि कर गये हैं, हम लोग उसका अनुशीलन वा पठन पाठन भी न कर सकेंगे, यह क्या विश्वास योग्य है? नहीं, नहीं, इस प्रकारके विचारकी कल्पना भी लज्जा-कर है! कितने हो परिश्रम हम लोगोंको ऐसे अभ्यस्त हो गये हैं, कि अब उनमें उतना परिश्रम है—यह बोध ही नहीं

होता । दृष्टान्तके लिये भोजनके परिश्रमका यहां उल्लेख किया जा सकता है। उसका कारण यह है, कि परिश्रम अर्थात् शक्तिकी परिचालनासे शक्तिकी वृद्धि हुआ करती है। अल्प-शक्ति वा दुर्बल पुरुषके लिये जो परिश्रम असह्य है, वर्द्धित-शक्ति वा सबल पुरुषोंके लिये वही विनोदमात्र है। एक समय जो कार्य्य असाध्य वा सामर्थ्यसे बाहर समझा जाता है, चेष्टाके प्रभावसे दूसरे समयमें वही साध्य वा अनायास-साध्य हो जाया करता है । जिनकी रसना (जीभ) इन्द्रिय, पित्त-दूषित हो गयी हैं, उनको शर्करा जैसे तिक्त (तीखी) लगने लगती है। उसी प्रकार जो लोग दर्शन-शास्त्रका कभी भी अनुशीलन नहीं करते, उनको दर्शन-शास्त्रका अनुशीलन प्रथम ही प्रथम कष्ट-कर दिखायी देगा, इसमें सन्देह नहीं। किन्तु पित्त- दूषित (पित्तसे बिगड़ी हुई) जिव्हा वाला पुरुष वार वार शर्कराका आस्वादन करता रहे तो, एक दिन शर्कराके मिठासको भी वह अनुभव कर सकता है और उसका पित्त दोष भी दूर हो सकता है, वैसेही दर्शन-शास्त्रका अनुशीलन करते रहनेसे थोड़े ही कालके पीछे उसमें कुछ भी कष्ट दिखायी नहीं देगा। इसके अतिरिक्त अनुशीलन-कारी दर्शन-शास्त्रका माधुर्य्य (मिठास) अनुभवकर अत्यन्त लाभ भी कर सकेगा। एक विषयके प्राप्त करलेने पर दूसरे विषयके जाननेकी उत्कण्ठा होती है और वह पहलेकी अपेक्षा थोड़े ही परिश्रमसे प्राप्त हो जाता है। श्रमके साथ साथ फल लाभ होनेपर श्रमका दुःख भी दूर चला जाता है। किसी कविने कहा है कि—"जिसकी

रसना अपविद्या-रूप पित्तसे उपतप्त हो गयी है, कृष्ण नाम और कृष्ण-चरित्रादि-रूप शर्करा उसको रुचिकर नहीं होती, किन्तु आदर-पूर्वक प्रतिदिन सेवा करनेसे वह स्वादु प्रतीत होने लगती है और रोगके मूल को भी नष्ट करती है।" (१)

दर्शन शास्त्रके अनुशीलनकी आवश्यकता ।

उत्तम पुरुषोंका आदर ही यदि वस्तुकी उत्तमताका परिचायक है, तब तो हिन्दुओंके दर्शन-शास्त्रकी उत्कृष्टता वा उत्तमता सर्व-वादि- सम्मत है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। इस विषयमें हम केवल अपने देशीय पण्डितोंकी बात नहीं कह रहे हैं, योरपके बुद्धिमान् पण्डितोंका भी अमूल्यवान् समय हिन्दुओंके दर्शन-शास्त्रकी चर्चामें बहुत कुछ लगा और लग रहा है। जिन्होंने अपने बुद्धि-बलसे शास्त्र सागरको मथ नाना प्रकारके वैज्ञानिक सिद्धान्त रत्नोंका उद्धार किया है और जो बड़े बड़े कठिन निगूढ़ तत्वोंके अनुसन्धान करनेमें समर्थ हो रहे हैं, वे लोग अपनी विज्ञान-चर्चाको छोड़ कर वा समेट कर हमारे दर्शन-शास्त्रके अनुशीलनमें प्रवृत्त नहीं होते, यदि हमारा दर्शन-शास्त्र अकिञ्चित्-कर वा असार होता। इससे

---

(१) "स्यात्, कृष्ण-नाम-चरितादि-सिताऽपविद्या—
पित्तोपतप्त-रसनस्य न रोचिकैव ।
किन्त्वादरादनुदिनं खलु सेव्यमाना
स्वाद्वी भवेदपि च तद्गद-मूल-हन्त्री ॥"

यह भी सिद्ध होता है कि सूक्ष्म-दर्शी पण्डितोंकी विज्ञान आदिके अनुशीलनसे जो ज्ञान-पिपासा निवृत्त नहीं हुई, हमारा दर्शन-शास्त्र उस प्यासके बुझानेमें सर्वथा समर्थ है। विज्ञान जिस विषयमें प्रदीपके समान भी प्रकाश करनेमें समर्थ नहीं हुआ, दर्शन-शास्त्र वहां सूर्य्यका प्रकाश करनेमें समर्थ है। वर्तमान योरपीय विज्ञानका कार्य-क्षेत्र भूत भौतिक पदार्थमात्रमें सीमाबद्ध है। आत्मा, परलोक इत्यादि आध्यात्मिक विषयोंमें विज्ञान बहुत ही कम आगे बढ़ा है, अथवा बढ़ा ही नहीं। जब विज्ञान अध्यात्म विषयमें अग्रसर होगा, तब दर्शन-शास्त्रसे उसे प्रचुर सहायता मिलेगी और तब दर्शन-शास्त्रके सब सिद्धान्त वैज्ञानिक सिद्धान्त होंगे।

कोई कोई कहते हैं, कि जब विज्ञानादि शास्त्रके अनुशीलनसे जगत्‌के प्रायः समस्त विषय जाने जाते हैं और उनसे प्रयोजन भी निकलता है, तब आत्माको न जाननेसे भी हमारी क्या क्षति है? निःसन्देह, यह प्रश्न उदर-सर्वस्व संसारी जीवोंके अनुरूप ही है! शास्त्र कहते हैं कि संसारके समस्त विषय आत्माके उपकरण वा प्रयोजन-निर्वाहक हैं। समस्त वस्तुएँ आत्मार्थ हैं, इसी लिये प्रिय हैं। धन हमें प्यारा लगता है, क्योंकि यह आत्माके भोगका साधन है। स्त्री, पुत्रादि सब प्रिय हैं, क्योंकि स्त्री, पुत्रादि आत्माके भोग-साधन वा प्रयोजन-निर्वाहक हैं। मनुष्य, धनके लिये धनको प्यार नहीं करते। स्त्री, पुत्रादिके लिये स्त्री, पुत्रादिको नहीं चाहते। यह सब वस्तुएँ आत्माके मनोरथ पूरे करती हैं। इसी विचारसे ये सब प्यारा लगती हैं।

इतने प्यारे स्त्री, पुत्रादिक भी यदि अपने प्रतिकूल हों तो फिर उनको कोई भी प्यार नहीं करता। आत्मा किन्तु सबकी अपेक्षा प्रिय है। आत्मामें प्रीति, निरुपाधिक अर्थात् स्वाभाविक है। स्त्री, पुत्रादि समस्त विषयोंमें जो प्रीति है,वह सोपाधिक है अर्थात् आत्माके प्रीति-साधन होनेसे। सुतराम्, आत्मा निरतिशय प्रिय है। आत्माकी अपेक्षा और कोई प्रिय वस्तु नहीं है (१) जो लोग आत्माको विना जाने ही आत्माके प्रीति-साधन विषयों को जानकर ही अपनेको कृतार्थ मान लेते हैं, वे लोग एकान्त हास्यास्पद और नितान्त मोहान्ध हैं। देवर्षि नारद समस्त अपरा विद्याके पारदर्शी होकर भी आत्म-ज्ञानके विना, शोकाकुल-चित्त हो आत्म-ज्ञानकी प्राप्तिके लिये भगवान् सनत्कुमारके पास शिष्य रूपमें उपस्थित हुए थे। (२) पूज्यपाद स्वामी श्रीशंकरा-

---

(१) "न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
किन्त्वात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥"

(बृहदारण्यक उपनिषद्)

"तत्प्रेमात्मार्थमन्यत्र नैवमन्यार्थमात्मनि।
अतस्तत् परमं तेन परमानन्दताऽत्मनः॥

(पञ्चदशी)

(२) "अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदः।
......सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि। नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भवादृशेभ्यः, तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगव शोचामि, तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु।

(छान्दोग्योपनिषद्)

चार्य्यजीने कहा है कि—"आत्म-तत्वके विना जाने समस्त वेद और दूसरी सब विद्याए' जाननेपर भी पुरुष कृतार्थ नहीं हो सकता। * मैं सब विषय जानता हूं, पाण्डित्यका गर्व करता हूं, अब यदि कोई मुझसे पूछे कि 'तू कौन है?' तो कहूंगा कि मैं कौन हूं, यह मैं नहीं जानता, इसको अपेक्षा और क्या शोचनीय हो सकता है? ग्रीक दार्शनिक सेक्रेटिसने 'मैं कौन हूं'? इसके जाननेका उपदेश दिया है। किन्तु उसका सिद्धान्त हुआ है कि मैं कुछ भी नहीं जानता। किसी किसीने यह भी कहा है कि 'ज्ञान क्या है?' इसको वह पीछेसे जान गया था। जो कुछ हो, हमारे दर्शन-शास्त्रमें आत्माके विषयमें विस्तृत और विशद व्याख्या है। आत्मज्ञ सभी लोग होना चाहते हैं। सुतराम्, यत्न-पूर्वक दर्शन-शास्त्रका अनुशीलन करना उचित है।

हमारे दर्शन-शास्त्र पर योरपवालोंका मत।

योरपके अनेक सत्यवादी पण्डितोंने अपने योरपके दर्शनकी अपेक्षा हमारे दर्शन-शास्त्रकी उत्तमताके विषयमें साफ साफ गवाही दी है। प्रसिद्ध मोक्षमूलर साहबने कहा है कि—"माध्यमिक वा आजकलके योरपीय दर्शनकी अपेक्षा भारतीय दर्शनके गर्भमें अनेक ज्ञान भरे पड़े हैं। विज्ञानकी सहायतासे अनेक

---

* सर्वानपि वेदानधीत्य सर्वंचान्यद्वेद्यमधिगम्याप्यकृतार्थ एव भवति, यावदात्म-तत्वं न जानाति।

(छान्दोग्योपनिषद् भाष्य, षष्ठ प्रपाठक)

दुर्लभ विषयोंकी प्राप्ति होती है, सही किन्तु आत्म-ज्ञानके विषयमें प्रायः कुछ भी नहीं हुई। भारतके निर्जन वनकी निस्तब्धता-(सन्नाटे) के मध्यमें जो आत्म-ज्ञानका प्रकाश हुआ है, जना-कीर्ण कोलाहल-पूर्ण राजमार्गमें वह पाया नहीं जाता।" जर्मनी-के सबसे बड़े दार्शनिक पण्डित शोपेनहारने अपनी प्रकाश्य वक्तृताके समय कहा था कि—"भारतीय काव्य और दर्शन इस समय योरपमें प्रचलित होने लगे हैं। मन लगाकर पढ़नेसे जाना जाता है कि उनमें इतना गहरा सत्य रक्खा है कि उसकी तुलनामें योरपका दर्शन अतिसामान्य प्रतीत होता है। सुत-राम्, हम लोग भारतके दर्शन-कर्ताओंको विना प्रणाम किये नहीं रह सकते, हमारे मनमें आपसे आप आता है कि मनुष्य जाति-का आद्य-स्थान भारतवर्ष ही उच्च दर्शनको जन्म-भूमि है" फ्रेडरिक शिलगलने कहा है कि—"ग्रीक् दर्शनका उच्च श्रेणीका युक्ति-तत्त्व, भारतीय युक्ति-तत्त्वके समीप, दिनके खुलते हुए प्रकाशमें निर्वाणोन्मुख क्षीणप्रभ दीपके समान प्रतीत होता है।" उन्होंने और भी कहा है कि "प्राचीन समयमें भारतके मनुष्योंने यथार्थ ईश्वर-ज्ञानका लाभ किया था। वेदान्त दर्शन शिक्षा देता है कि मनुष्य ईश्वरका अंश हैं और ईश्वर के साथ मिलनाही उसके प्रत्येक उद्यम और कार्यका मुख्य उद्देश्य है।"

विक्टर कोजिन् देशीय शास्त्रके पक्षपाती होकर भी यह कहनेको वाध्य हुए हैं, कि "उपनिषद्-अध्ययनकी अपेक्षा मङ्गल-दायक और उन्नति-साधक अध्ययन और इस जगत्में नहीं है। उपनिषद्-अध्ययनसे जीते समय जिस प्रकार शान्ति

पायी है ; मृत्यु-कालमें भी उसी प्रकार मिलेगी ।” इस प्रकार-की आशा भी उसने की हैं । मोक्षमूलर साहबने इस मतको समर्थन करते समय कहा है, कि “मनुष्योंको सुखसे मृत्युके सामने जानेके लिये प्रस्तुत करना ही यदि दर्शन-शास्त्रका उद्देश्य है तो, वह उद्देश्य वेदान्त दर्शन द्वारा जिस प्रकार सुसिद्ध हुआ है, अन्य किसीसे उस प्रकार सिद्ध नहीं हो सकता। सर विलियम जोन्सने कहा है कि “वेदान्तादिके सुन्दर सुचारु प्रस्तावोंकी पाठ करनेसे यह विश्वास किये बिना नहीं रहा जासकता कि ग्रीस देशके पिथागोरस वा प्लेटोने अपने सब उच्च ‘फौवारे’ भारतके ज्ञानियोंके उत्स (सोते) से पूर्ण किये थे।”

योरपीय दूर-दर्शी पण्डित कोई स्पष्ट भाषामें और कोई प्रकारान्तरसे इस बातके स्वीकार करनेमें वाध्य हुए हैं, कि योर-पीय दर्शन, भारतीय दर्शनसे संग्रह किया गया है । यह सम्भव भी है । कारण, योरपीय दर्शन और सभ्यताका आदि विकाश-स्थान ग्रीस देश ही है । ग्रीस देशसे ही योरपके अन्यान्य देशोंमें शिक्षा और सभ्यताका विस्तार हुआ है । इस विषयमें योरपके पण्डितोंका मत-भेद भी नहीं है ।

आज कलके योरपीय लोगोंका मत अन्य प्रकारका होनेपर भी ग्रीसवालोंके मतमें मिस्र देश वा ‘इजिप्ट’ में ही प्रथम सभ्यताकी उत्पत्ति हुई है। चाहे ग्रीसके बुद्धिमान् उसे अपने देशमें ले गये हों अथवा मिश्रवालोंके ग्रीस देशमें जा बसने और उनके हिलने मिलनेके कारण ग्रीसदेशमें भी सभ्यताका विकाश होगया । ग्रीसके सबसे पहिले दार्शनिक पिथागोरसने मिस्र देशमें शिक्षा

पायी थी। वे मिस्र देशमें शिक्षित हो एशिया खण्डके नाना देशोंमें भ्रमण कर स्वदेशमें गये थे और इटलीकी इटना नगरीमें अध्यापन कार्य करते थे। उनके दर्शनमें जन्मान्तर अङ्गीकार किया गया है और मांस-भक्षण पाप-जनक माना गया है। प्लेटो योरपका सर्वोत्तम दार्शनिक है और प्लेटोका दर्शन योरपका सर्वोत्तम दर्शन है। इन्होंने भी 'इजिप्ट' में बहुत दिन तक निवास कर शिक्षा पायी थी। ये परलोक मानते हैं और एकेश्वर-वादी थे। अनेक बुद्धिमान् अनुमान करते हैं कि उन्होंने 'इजिप्ट' में ही एकेश्वर-वादकी शिक्षा प्राप्त की थी। तात्पर्य यह है कि पहले समयमें इजिप्ट ही योरपवालोंकी उच्च शिक्षाका स्थान था। आजकल जैसे कुछ दिनतक काशीमें विना अध्ययन किये, हमारे पण्डितोंकी शिक्षा उच्च शिक्षामें गिनी नहीं जाती, वैसे ही इजिप्टमें विना पढ़े योरपवालोंकी शिक्षा उच्चताको नहीं पहुंचती थी। उस समयके योरप-निवासियोंके लिये मिस्र देशको काशी कहना अत्युक्ति नहीं है।

मिस्र देशका संस्कृत नाम मिश्र देश है। कहते हैं कि बहुत पुराने समयमें मिस्र देश अति उच्च श्रेणीका वाणिज्य-स्थान था। भारतवर्षके आर्य लोग वाणिज्यके लिये वहां जाया करते और सामयिक वास भी करते थे। पूर्व-पश्चिम देशके सब मनुष्य वहां मिश्रित (मिलते) थे, इस कारण उसका नाम 'मिश्र' देश होगया। आर्य लोग ही सभ्य थे। अमरसिंहके मतमें महाकुल, कुलीन, आर्य, सभ्य, सज्जन और साधु ये कई शब्द एकार्थ-बोधक हैं। (१) आर्य लोगोंके कारण ही मिश्र-

देशमें सभ्यता प्रवर्तित हुई। पुराने समयके योरपीय लोगोंके लिये एशिया खण्ड प्रायः अपरिज्ञात था। अपने परिज्ञात सब देशोंके मध्यमें मिश्र देशमें ही उन्होंने सबसे प्रथम सभ्यता देखी थी। सम्भव है कि इसी कारण उन्होंने उसी (मिश्र) को सभ्यताकी आदि जन्म-भूमि कहा हो। पिथागोरसके समय एशिया खण्डके अनेक देश परिज्ञात होगये थे। इसलिये उन्होंने मिश्रमें शिक्षा समाप्त करके विशेष अभिज्ञताके लिये एशिया खण्डके अनेक देशोंमें भ्रमण किया था। उन्हों (पिथागोरस) ने सभ्य देश (मिश्र) में अध्ययन कार्य पूराकर असभ्य-देश (एशिया खण्ड) में परिभ्रमण किया था,—इस प्रकारकी कल्पनाकी अपेक्षा उन्होंने सभ्य देशमें अध्ययन पूर्णकर सभ्यतर देशमें परिभ्रमण किया था—इस प्रकारकी कल्पना अधिक संगत प्रतीत होती है। जो हो; योरपीय बुद्धिमान् जिस भारतीय दर्शनमें अधिक आस्थावान् और भक्तिमान् हैं, जो भारतका दर्शन-शास्त्र बुद्धिको निर्मल करनेका उपाय है, प्रतिभाका आकर, तर्कका लीला-क्षेत्र, आत्म-ज्ञानका स्रोत, मुक्तिका सोपान और मृत्यु-भय रोगका अद्वितीय महौषध है, भारतके उसी दर्शन-शास्त्र-के अध्ययनाध्यापनके लिये यत्न और परिश्रम करनेमें जो पराङ्-मुख हैं, उनको विचार-मूढ़के सिवा और क्या कहा जा सकता है? दर्शन-शास्त्रको दूरसे व्याघ्र समझकर भागने और डरनेका कुछ प्रयोजन नहीं है। साहस-पूर्वक पास जानेसे दिखायी देगा कि

(१) "महाकुल-कुलीनार्य-सभ्य-सज्जन-साधवः।"
(अमरकोष)

यह व्याघ्र नहीं, विचित्र-वर्णकी धेनु है। इससे तीक्ष्ण नख-दंष्ट्राके आघातका भय नहीं है। यत्न-पूर्वक इसे दूहनेसे पुष्टि -कर और सुमधुर दुग्ध मिलेगा।

"आशङ्कसे यदग्निं, तदिदं स्पर्श-क्षमं रत्नम् ।"

'जिसको अग्नि समझकर शङ्का करता था, वह अग्नि नहीं, स्पर्श-योग्य रत्न है।'

नाम-करण-प्रणाली ।

दर्शन-शास्त्रके सिद्धान्तोंकी व्याख्या करनेसे पहले दर्शन-शास्त्रका परिचय देना कुछ अप्रासङ्गिक न होगा। दर्शन-शास्त्र-किसको कहते हैं? इस विषयमें 'दर्शन' इस संज्ञा वा नामसे जो कुछ अर्थकी सहायता मिलती है, उसका विचार यहां किया जाता है। व्याकरणमें दृश् धातु और ल्युट् युट् वा अनट् प्रत्यय के योगसे 'दर्शन' शब्द सिद्ध होता है। जबतक दृश् धातुके अर्थका ज्ञान न हो, तबतक 'दर्शन' शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ नहीं जाना जाता और धातुका अर्थ जाननेके लिये सबसे प्रथम धातु-पाठ पर दृष्टि पहुंचती है। अब देखना चाहिये कि धातु-पाठमें दृश् धातुका अर्थ क्या किया गया है?

धातु-पाठमें दृश् धातुका अर्थ 'प्रेक्षण' किया गया है। 'प्र' उपसर्ग-पूर्वक ईक्ष धातुसे 'प्रेक्षण' शब्द उत्पन्न होता है। इस-लिये 'ईक्ष' धातुका अर्थ विना जाने दृश् धातुका अर्थ-ज्ञान होना असम्भव है। धातु-पाठमें ईक्ष धातुका अर्थ 'दर्शन' किया गया है। अब कहिये, अन्योन्याश्रय सम्बन्धसे दर्शन शब्दका अर्थ

क्या समझा जाय? सुतराम्, धातु-पाठकी सहायतासे 'दृश्' और 'ईक्ष' धातुके अर्थ जाननेकी आशा निष्फल हुई। क्योंकि धातु-पाठके अनुसार 'दृश्' धातुका अर्थ 'प्रेक्षण' एवं 'ईक्ष' धातु-का अर्थ 'दर्शन' है। अब किसी दूसरे उपायसे 'दृश्' धातुका अर्थ निश्चय करना होगा।

उपायान्तरकी सहायतासे हो जब अर्थ-निर्णय करना है तो यही अच्छा जान पड़ता है कि प्रयोगानुसार दर्शन शब्दका अर्थ निश्चय किया जाय। अर्थात् दर्शन शब्दका प्रयोग कैसे स्थलपर होता है, यह देखना चाहिये। प्राकृत भाषामें 'दृश्' धातुके स्थानमें 'पेक्ख' आदेश होता है। हिन्दी भाषाके प्राचीन कवियों-का 'पेख' और हिन्दी भाषाका 'देख' शब्द प्राकृत 'पेक्ख' शब्दके अपभ्रंशमात्र हैं। जिस जगह चक्षु इन्द्रियसे प्रत्यक्ष होता है, उसी स्थानपर सब लोग 'देख' शब्दका व्यवहार करते हैं। संस्कृत भाषामें भी सामान्यतः चाक्षुष ज्ञानके अर्थमें ही 'दृश्' धातुका प्रयोग होता है। प्रसिद्ध महामहोपाध्याय रघुनन्दन भट्टाचार्य्यने कहा है, कि चाक्षुष ज्ञान ही 'दृश्' धातुका मुख्य अर्थ है। 'दृश्' धातुका अर्थ चाक्षुष ज्ञान (नेत्रोंसे देखना) है, यही सिद्धान्त नैयायिकोंने भी स्वीकार किया है। इसको यदि सर्व-वादि-सम्मत सर्व-तन्त्र-सिद्धान्त कहा जाय तो, कुछ अत्युक्ति नहीं है। इस-लिये चाक्षुष ज्ञान-साधन चक्षु इन्द्रियका नाम दर्शनेन्द्रिय है। अतएव यह जाना जाता है, कि चाक्षुष-ज्ञानका साधन शास्त्र ही दर्शन-शास्त्र है।

प्रश्न हो सकता है, कि यदि चक्षु इन्द्रिय ही चाक्षुष-ज्ञानका

साधन है तो, शास्त्र चाक्षुष-ज्ञानका साधन क्यों होगा? इसके उत्तरमें यही वक्तव्य है, कि दर्शन चाहे, साक्षात् सम्बन्धसे नहीं, पर परम्परासे आत्म-साक्षात्कारका साधन है, इसमें कुछ भी सन्देह नहीं। क्योंकि दर्शन-शास्त्र आत्माके मननका उपाय है। आत्म-मनन जब योग-रूपमें परिणत होता है, तब आत्म-साक्षात्कार होता है। यह सच है, कि आत्म-साक्षात्कार चाक्षुष है या मानस—इस विषयमें विवाद हो सकता है। किन्तु उपनिषदोंमें जगह जगहपर आत्म-साक्षात्कारके अर्थमें 'दृश्' और 'ईक्ष' धातुका प्रयोग हुआ है। अतएव आत्म-साक्षात्कार चाक्षुषज्ञान-स्वरूप है—इस कथनमें भी कुछ वाधा नहीं हो सकती।

यद्यपि रूपवाला वाह्य द्रव्य ही चाक्षुष ज्ञानका विषय हुआ करता है, तथापि लौकिक प्रत्यक्षके स्थानमें ही उस प्रकारका नियम है। आत्माका चाक्षुष प्रत्यक्ष लौकिक नहीं, अलौकिक योगज-धर्म्म-जन्य है। जिस योगज धर्म्म द्वारा अतीन्द्रिय, सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट (दूरस्थ) वस्तुका भी चाक्षुष प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस योगज धर्म्म-बलसे भागीरथी और समुद्र पीये गये थे, दण्डक-राज्य अरण्यमें परिणत होगया था,(१) उसी योगज धर्म्म द्वारा आत्माका चाक्षुष प्रत्यक्ष होगा, इस विषयमें कुछ भी आश्चर्य नहीं है।

विश्व-रूप-दर्शनके समय भगवदिच्छासे अर्जुनके दिव्य नेत्रों-

---

(१) भागीरथी और समुद्रके पीये जाने और दण्डक राज्यके अरण्यमें परिणत होनेकी कथा वाल्मीकि रामायणमें वर्णित है।

का आविर्भाव हुआ था। उनके चर्म्म-चक्षु, सब अदृश्य विषयों-की जिन्हें वह तब तक न देख सके थे, देखनेमें समर्थ हुए थे। भगवान् वेदव्यासने योग-प्रभावसे सञ्जयको दिव्य चक्षु और दिव्य श्रोत्र दिये थे। इसीलिये वे राजधानी हस्तिनापुरमें रह कर भी कुरुक्षेत्र-संग्रामके समस्त विषय और सब बातें स्वयं देख सुनकर महाराज धृतराष्ट्रसे ज्योंकी त्यों कहनेमें समर्थ हुए थे। सारा निचोड़ यह हैं, कि योगज धर्म्मका प्रभाव अचिन्तनीय है। रश्मि-विशेषकी सहायतासे व्यवहित वस्तुका चाक्षुष प्रत्यक्ष आजकल विलायती वैज्ञानिक भी मानने लग गये हैं। सुतराम्, किसी कारण विशेषके प्रभावसे उस लौकिक नियमका जिसे आजतक हम चराचरमें देखने आये हैं, स्थल विशेषमें व्यतिक्रम होना, आश्चर्यका विषय नहीं है।

दर्शन शब्दकी व्याख्या।

आत्म-साक्षात्कारके चाक्षुष-ज्ञान-स्वरूप न होनेपर भी वेदमें आत्म-साक्षात्कार अर्थमें 'दृश्' धातुका प्रचुर प्रयोग रहनेसे आत्म-साक्षात्कार भी 'दृश्' धातुका अर्थ है, यह अवश्य स्वीकार करना होगा। इसलिये जिस शास्त्रमें आत्म-साक्षात्कार-का साधन है, वह अनायास ही दर्शन कहा जा सकता है। मननादि भी आत्म-साक्षात्कारके साधन हैं। इसलिये 'दर्शन" पदवाच्य हो सकते हैं सही, किन्तु श्रवण, मनन आदि शास्त्र नहीं हैं, इसलिये दर्शन शास्त्र कहनेसे श्रवण, मनन आदिका बोध न होकर शास्त्र-विषयका ही बोध होता है।

एक देशसे संज्ञा वा नामका व्यवहार ।

थोड़ी सी बातमें व्यवहार सिद्ध करनेके लिये समस्त संज्ञा वा पूरे नामका व्यवहार न कर नामका एक देश व्यवहृत हुआ करता है। उसी एक देश द्वारा समुदायका कार्य्य सम्पन्न हुआ करता है। जैसे भीमसेनको भीम, रामचन्द्रको राम, सत्यभामा-को सत्या, वा भामा कहा जाता है, उसी प्रकार दर्शन-शास्त्रको भी दर्शन कहा करते हैं। इतना ही नहीं, संक्षेपके लिये नाम-के एक अक्षरसे भी समुदायका व्यवहार, शास्त्रमें देखा गया है। इस विषयमें बहुतसे उदाहरणोंका कुछ प्रयोजन नहीं है, दो एक उदाहरण दे देने ही यथेष्ट होंगे।

प्रेत-पक्षसे अगली द्वितीया, कोजागर पूर्णिमासे अगली द्वितीया, चैत्रीसे अगली द्वितीया, एवं चातुर्मास्य व्रतसे अगली द्वितीया,—ये चारों द्वितीयाएं, प्रे, को, चै, चा—इन चारों पहले अक्षरोंसे कही गयी हैं। आषाढ़ी पूर्णिमा, कार्तिकी पूर्णिमा, माघी पूर्णिमा और वैशाखी पूर्णिमा—ये चारों पूर्णिमाएं आ, का, मा, वै,—इन चारों आद्य अक्षरों द्वारा निर्दिष्ट हुई हैं। इस प्रकारका शास्त्रीय व्यवहार लोकमें भी देखा जाता है। चिट्ठीके लिफाफेपर जि० मु० पं० इत्यादि लेख ही इसके उदाहरण हैं।

दर्शन शब्दकी व्याख्याके विषयमें माधवाचार्य्यका मत ।

पूज्यपाद माधवाचार्यने कहा है कि अर्थके सादृश्यके अनुसार ही संज्ञाकी प्रवृत्ति होती है। यह कहनेमें कुछ भी असंगति

नहीं होती है, कि इस मतमें 'दर्शन शास्त्र' यह संज्ञा भी सादृश्य-को लेकर हुई है। प्रत्यक्ष, षड्-विध होनेपर भी चाक्षुष प्रत्यक्ष औरोंकी अपेक्षा अधिक परिष्फुट और अधिक स्थानोंपर सन्देह-रहित हुआ करता है। दर्शन-शास्त्रमें इस प्रकारकी दृढ़तर और प्रकाश्य-युक्तियों द्वारा सब पदार्थोंका प्रतिपादन होता है। कि वे चाक्षुष-ज्ञान-गोचर पदार्थकी तरह परिष्फुट और सन्देह-रहित होते हैं। निदान, जो शास्त्र, चाक्षुष ज्ञानके सदृश ज्ञान-का साधन है, उसको दर्शन-शास्त्र कहनेमें कोई दोष नहीं हो सकता।

लक्षित पदार्थ, अर्थात्—जिस पदार्थका लक्षण किया गया है, वह प्रमाण द्वारा उपपन्न होता है कि नहीं, प्रमाण द्वारा इसका निश्चय करना दर्शन-शास्त्रका एक प्रधान विषय है। दार्शनिक लोग वस्तुकी उपलब्धिमात्रसे तृप्त नहीं होते, वस्तुका तत्व-निरूपण और उपलब्धिकी सत्यासत्यताका निश्चय भी करते हैं। इस प्रक्रियाका नाम 'परीक्षा' है। 'परि' उपसर्ग पूर्वक 'ईक्ष' धातुसे 'परीक्षा' शब्द व्युत्पादित (सिद्ध) हुआ है। यह प्रमाणित हो चुका है, कि 'दृश्' और 'ईक्ष' धातुका एक ही अर्थ है। सुतराम्, 'परीक्षा' शब्द और 'दर्शन' शब्द-समानार्थक हैं, यह कहना असंगत न होगा। अतएव परीक्षा-की ओर लक्ष्य रख कर 'दर्शन' नाम प्रवर्तित हुआ है, यह अना-यास ही कहा जा सकता है।

एक बात और है—शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार हो सब वस्तुओंका नाम होगा, यह बात भी सर्व-वादि-सिद्ध नहीं है,

इस विषयमें पूर्व्वाचार्यों का मत-भेद है। जो लोग व्युत्पत्तिके पीछे चलते हैं, उनके मतसे भी व्युत्पत्तिके अनुसार सब जगह वस्तुका नाम-करण नहीं होता। व्युत्पत्तिके यथा कथञ्चित् (तैसे जैसे) सम्बन्धके अनुसार हो नाम हुआ करता है। और स्थल विशेषपर व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थका सम्पूर्ण रीतिसे परित्याग वा उपेक्षा की जाती है। यह बात अब क्रमसे दिखायी जाती हैं।

नैयायिकोंके मतमें यौगिक आदि चार प्रकारकी संज्ञाएं।

नैयायिक आचार्यों के मतमें नाम चार प्रकारके हैं, यौगिक, रूढ, योग-रूढ, और यौगिक-रूढ वा रूढ-यौगिक। योग—नाम, शब्दके व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ वा अवयवार्थका है और प्रकृति-प्रत्ययके अर्थके अनुसार जो नाम हो, उसे यौगिक कहते हैं। जैसे—पाचक प्रभृति। पच् धातु और ल्युण् वुण् वा अकण् प्रत्ययके योगसे पाचक शब्द व्युत्पन्न हुआ है। पच धातुका अर्थ पाक है और प्रत्ययका अर्थ, कर्ता है। अतएव पाचक शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ—पाक-कर्ता। लोकमें भी पाक अर्थात् भोजन बनानेवालेको ही पाक-कर्ता कहते हैं। सुतराम्, जो पाक करे, उसका पाचक नाम यौगिक है।

जो नाम, प्रकृति और प्रत्ययके अर्थ-अनुसार प्रवृत्त नहीं होता, किन्तु समुदायके अर्थानुसार प्रवृत्त होताहै,—अर्थात् जिसके व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थका अङ्गीकार न होकर समुदायका अर्थ ग्रहण किया जाय, उसको सङ्केत-युक्त और रूढ कहते हैं। जैसे—गो प्रभृति शब्द। गम् धातु और डोस् प्रत्ययके योगसे

गो शब्द सिद्ध हुआ है। गम् धातुका अर्थ है, गति वा गमन अर्थात्—चलना और डोस् प्रत्ययका अर्थ है कर्ता,—अर्थात् चलनेवाला। निदान, गो शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ हुआ—गमन-कर्ता, अर्थात् चलने वाला। इस अर्थके अनुसार गो शब्दका प्रयोग नहीं होता है। क्योंकि उक्त रीतिके अनुसार तो गमन करनेवाले मनुष्यादिमें भी गो शब्दका प्रयोग होसकता है, एवं सोने और बैठनेके समय अर्थात् जिस अवस्थामें गमन क्रिया रहती ही नहीं, उस अवस्थामें प्रसिद्ध गो पशुमें भी गो शब्दका प्रयोग नहीं हो सकता।

अतिव्याप्ति और अव्याप्ति।

इन दोनों दोषोंका यथा-क्रमसे दार्शनिक नाम है 'अति व्याप्ति' और 'अव्याप्ति'। व्याप्ति शब्दका अर्थ है, सम्बन्ध। अति-व्याप्ति कहते हैं, अतिशय सम्बन्ध वा अतिरिक्त सम्बन्धको। सम्बन्ध-योग्य स्थलको अतिक्रम (लङ्घन) कर अन्यके साथ सम्बन्ध होनेपर अतिव्याप्ति दोष होता है। 'सम्बन्ध-योग्य स्थलको अतिक्रम कर'—इस कहनेसे ऐसा न समझना चाहिये कि सम्बन्ध-योग्य स्थलमें सम्बन्ध न रहेगा, प्रत्युत सम्बन्ध-योग्य स्थलमें सम्बन्ध रहकर भी सम्बन्धके अयोग्य स्थलमें यदि सम्बन्ध हो, तभी 'अतिव्याप्ति' दोष घटता है।

उक्त स्थलमें व्युत्पत्तिके अनुसार गमन-शील (अर्थात् जिसका स्वभाव चलनेका है) गो पशुमें गो शब्दके प्रयोगका कोई बाधक नहीं है, अथच गमन-शील मनुष्यादिमें भी गो शब्दका प्रयोग

हो सकता है। गमन-शील मनुष्यादि गो शब्दके सम्बन्धके योग्य स्थल नहीं हैं। इन अयोग्य स्थलोंमें भी सम्बन्ध होता है—इस कारण, 'अतिव्याप्ति' दोष घटता है।

'अव्याप्ति' नाम है, असम्बन्धका। यह तो असम्भव है, कि किसी भी अर्थके साथ शब्दका सम्बन्ध न रहे, किन्तु जिस स्थल-में सम्बन्ध रहना चाहिये, उस स्थलमें सम्बन्धका न रहना ही, असम्बन्ध समझना चाहिये। जैसे—सोती वा बैठी हुई गौ (पशु) भी गौ ही है। उस अवस्थामें भी उसके साथ गो शब्दका सम्बन्ध रहना उचित है, किन्तु गो शब्दके व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थके अनुसार शयनादि दशामें गो पशुके साथ गो शब्दका सम्बन्ध नहीं रह सकता है। इसलिये 'अव्याप्ति' दोष होता है। गो शब्दको यदि यौगिक कहा जाय, तब उक्त-रूप अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष हैं। इसलिये गोशब्द यौगिक नहीं,—रूढ है।

किसी किसी प्रत्ययसे क्रिया करनेकी योग्यताका बोध होता है सही, किन्तु सब प्रत्यय क्रिया करानेकी योग्यताको बोध नहीं कराते। साधारणतः प्रत्ययसे क्रियाके कर्ताका ही बोध होता है। इस स्थल (गो शब्द) में भी 'डोस्' प्रत्यय-का अर्थ क्रिया-कर्ता है। इसलिये अव्याप्ति दोष घटता है। क्रिया करनेकी योग्यता 'डोस्' प्रत्ययका अर्थ है, यह मान लेनेपर आपत्ति हो सकती है, कि जिस प्रकार पाचक व्यक्ति जिस समय पाक नहीं करता है, उस समय भी उसको पाचक कहते हैं। क्योंकि उस कालमें पाक न करनेपर भी उसमें

पाक करनेकी योग्यता है। इसी प्रकार सोते वा बैठे हुए गो पशुके उस कालमें गमन न करनेपर भी गमन करनेकी योग्यता उसमें है। इस कारण, शयनादि कालमें भी गो शब्दका प्रयोग हो सकता है। अतः गो शब्दके यौगिक होनेपर 'अव्याप्ति' दोष नहीं होता, इसके उत्तरमें यही वक्तव्य है कि उदि उक्त प्रकारसे कथञ्चित्, 'अव्याप्ति' दोषका परिहार भी कर दिया जाय, तो भी अतिव्याप्ति दोषका तो किसी प्रकार परिहार ही नहीं होसकता। इसलिये गो शब्द रूढ है,—यह अवश्य स्वीकार करना होगा।

व्युत्पत्ति-निमित्त और प्रवृत्ति-निमित्त ।

गमन-कर्ता—यह अवयवार्थ, (गम् धातु और डोस् प्रत्यय-का अर्थ) केवल गो शब्दकी व्युत्पत्तिका निमित्त है, प्रवृत्तिका निमित्त नहीं। गो शब्दका प्रवृत्ति-निमित्त है, गोत्व जाति। जिस अर्थको अवलम्बन कर शब्द व्युत्पन्न हो, गो शब्दकी व्युत्पत्तिके अनुसार जो अर्थ पाया जाय,उसको व्युत्पत्ति-निमित्त कहते हैं। जिस अर्थके अवलम्बनसे शब्दकी प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोग हो, उसको प्रवृत्ति-निमित्त कहते हैं (१)। अतएव गोत्व जाति वा गोत्व-विशिष्ट व्यक्तिमें गो शब्दका प्रयोग होता है।

---

१ शब्दका व्युत्पत्ति-निमित्तऔर प्रवृत्ति-निमित्त अर्थ, भिन्न भिन्न हुआ करता है, अर्थात्—एक अर्थमें व्युत्पन्न होकर अन्य अर्थमें शब्द प्रयुक्त होता है—यह पूर्वाचार्य्योंने अच्छी तरह निरूपण किया है। इसके सैकड़ों उदाहरण दिये जा सकते हैं। किन्तु विस्तारके भयसे विरत रहते हैं।

इस कारण इस अर्थमें गो शब्दका सङ्केत अङ्गीकार किया गया है।

यह सङ्केत, 'गो'—इस वर्णावलीमें स्थित गो शब्दके घटक गम् धातु वा डोस् प्रत्ययका नहीं है। पाचक शब्द यौगिक है, रूढ नहीं है। कारण, 'पाचक'—इस वर्णावलीका किसी अर्थ-विशेषमें सङ्केत नहीं है। अवयव-सङ्केत अर्थात् 'पच्' धातु और 'वुण्' प्रत्ययके सङ्केत द्वारा ही पाक-कर्ता रूप अर्थकी अवगति होसकती है। समुदायके सङ्केतको स्वीकार करनेका कोई कारण नहीं है। इसलिये पाचक शब्द रूढ नहीं, यौगिक है।

शक्ति और आधुनिक संकेत।

आजानिक और आधुनिक भेदसे सङ्केत दो प्रकारका है। जो सङ्केत, अनादि कालसे चला आता है और जो नित्य है, वह आजानिक है। एवं जो सङ्केत, अनादिकालसे नहीं चला आता किन्तु काल-विशेषमें प्रवर्तित हुआ है, वह आधुनिक है। आजानिक सङ्केतका दूसरा नाम है—शक्ति और आधुनिक सङ्केतका दूसरा नाम है—परिभाषा। गो, गवयादि पदका सङ्केत आजानिक है और चैत्र, मैत्रादि पदका सङ्केत आधुनिक है।

आजानिक सङ्केत वा शक्तिके अनुसार जो शब्द जिस अर्थ-का प्रतिपादन करता है, अनादि कालसे उस शब्दका उसी अर्थमें प्रयोग हुआ करता है। आधुनिक सङ्केत वा परिभाषाका

जो शब्द जिस अर्थका प्रतिपादन करता है, उस अर्थमें उस शब्दका प्रयोग, अनादि कालसे नहीं होता, हो सकता भी नहीं। क्योंकि आधुनिक सङ्केत वा परिभाषा, व्यक्ति विशेषकी इच्छा-नुसार प्रवर्तित होती है। पर परिभाषाकी सृष्टि होनेसे प्रथम पारिभाषिक अर्थका बोध होना एकान्त असम्भव है।

ध्यान करो, कि किसी एक व्याकरणाचार्यने श्रद्धा, अग्नि, नदी, वृद्धि प्रभृति शब्दोंसे, विशेष विशेष वस्तुओंकी संज्ञाएं की हैं। उसके इस प्रकारकी परिभाषा करनेके पीछेसे ही श्रद्धादि शब्द विशेष विशेष वस्तुओंके बोधक हुए हैं सही, किन्तु उससे प्रथम ऐसा कदापि नहीं था। एवं पारिभाषिक शब्द, साधा-रणमें प्रयुक्त नहीं होते थे। अतएव श्रद्धादि शब्दोंका वस्तु विशेषमें सङ्केत, आजानिक नहीं, आधुनिक है।

रूढ शब्दका विषय और अधिक न कहकर अब संक्षेपसे योग-रूढ और यौगिक-रूढ शब्दका परिचय दिया जाता है। जिस शब्दके अवयवार्थ और समुदायार्थ परस्पर अन्वित हों, उसका नाम योग-रूढ है। जैसे—पङ्कजादि शब्द। जो पङ्क (कीच) में जन्म ले वही पङ्कज है, यही पङ्कज शब्दका अवयवार्थ है। कुमुदादि भी पङ्क-जात हैं। अवयवार्थके अनुसार कुमुदादिमें भी पङ्कज शब्दका प्रयोग हो सकता है। इसलिये कमल, पङ्कज शब्दका समुदायार्थ है—यह स्वीकार करना होगा।

योग-रूढ-स्थलमें अवयवार्थ एवं समुदायार्थ परस्पर अन्वित होते हैं, इस हेतु, केवल अवयवार्थके सहारे कुमुदादिमें वा केवल समुदायार्थके अवलम्बनसे स्थल-पद्ममें पङ्कज शब्दका प्रयोग

नहीं होता। यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि इस स्थलपर न्यायाचार्य्योंका मत विवृत होरहा है। मीमांसाचार्य्योंके मतमें अवयवार्थ और समुदायार्थ परस्पर अन्वित होनेपर भी स्थल-विशेषमें केवल अवयवार्थके अनुसार कुमुदादिमें एवं केवल समुदायार्थके अनुसार स्थल-पद्ममें भी कभी कभी पङ्कज शब्दका प्रयोग होता है। युक्तिकी विलक्षणता रहनेपर भी किसी किसी न्यायाचार्य्यने इस मतका अनुसरण किया है। अनावश्यक समझकर उनकी युक्तियोंका यहां प्रदर्शन नहीं किया गया।

जिस शब्दके अवयवार्थ और समुदायार्थ कदापि परस्पर अन्वित नहीं होते, पृथक् पृथक् रूपसे ही प्रतीत होते हैं। उसका नाम यौगिक-रूढ वा रूढ-यौगिक है। जैसे मण्डप शब्द। मण्डप शब्द किसी स्थलमें अवयव-शक्ति द्वारा मण्ड-पान-कर्ताका और किसी स्थलमें समुदाय-शक्ति द्वारा गृह विशेष (मण्डपघर) का बोधक है। किसी स्थानमें भी अवयवार्थ एवं समुदायार्थका अन्वय नहीं हुआ, हो सकता भी नहीं।

समस्त नाम, धातुओंसे उत्पन्न होते हैं कि नहीं? इसका विचार।

विचार करनेपर देखा जाता है, कि न्यायाचार्य्योंके मतमें व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थके अनुसार सब नाम नहीं होते। केवल यौगिक नाम व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थका अनुसरण करते हैं और रूढ-यौगिक नाम किसी अर्थमें व्युत्पत्तिका अनुसरण करते हैं और किसी अर्थमें नहीं। योग-रूढ नाम दोनों अर्थोंका, अर्थात्

व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ और समुदायके अर्थका अनुसरण करते हैं। रूढ़ नाम व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थका भी कुछ अनुसरण करते हैं। सुतराम्, दर्शन शब्दको योग-रूढ वा केवल रूढ कहनेसे कुछ भी दोष नहीं होसकता।

"समस्त नाम व्युत्पन्न अर्थात् धातु और प्रत्ययके योगसे उत्पन्न हुए हैं, कि नहीं?" इस विषयमें पूर्वाचार्य्योंमें भी मत-भेद है।

इस विषयमें शाकटायनका मत।

व्याकरणाचार्य शाकटायन एवं निरुक्ताचार्योंके मतमें "समस्त नाम, धातुसे उत्पन्न हुए हैं।" निरुक्ताचार्य गार्ग्य एवं किसी किसी व्याकरणाचार्य्यके मतमें "यौगिक नाम, धातुसे उत्पन्न हुए हैं और इनके अतिरिक्त अन्य सब नाम, रूढ शब्द हैं। अर्थात् धातुकी नाईं स्वतः सिद्ध हैं। प्रकृति-प्रत्ययके योगसे नहीं उत्पन्न होते।" सुतराम्, इनके मतमें यौगिक नामके सिवाय और प्रकारके नामोंका अवयवार्थ ही कुछ नहीं है।

सब धातु क्रिया-वाची हैं। इसलिये समस्त नाम यदि धातु-जात (धातुसे उत्पन्न हुए) मान लिये जायं तो, सर्वत्र धातु-प्रतिपाद्य क्रियाके योगमें वस्तुएं कहनी चाहिये। किन्तु यह एकान्त असम्भव है। कारण, वस्तुमात्रके नाम तीन श्रेणियोंमें विभक्त हो सकते हैं—प्रत्यक्ष-क्रिय, प्रकल्प्य-क्रिय और अविद्यमान-क्रिय, जिस स्थलमें नाम-घटक प्रकृति और प्रत्ययका अर्थ अभिधेय वस्तुमें सङ्गत है, अर्थात् नामके

अवयवार्थके अनुसार जहां नाम-करण हुआ हो, और भी स्पष्ट करके यों कहा जा सकता है कि अभिधेय-वस्तु-गत किसी क्रियाके अवलम्बनसे जो नाम प्रवृत्त होता है, उसका नाम 'प्रत्यक्ष-क्रिय' है। क्योंकि, कारकादि नामोंकी अभिधेय वस्तुएं, खाता है पीता है वा 'खान-पान' ये सब क्रिया-युक्त हैं—यह प्रत्यक्ष-सिद्ध हैं। सुतराम्, कारकादि नाम प्रत्यक्ष-क्रिय हैं।

गो, अश्व प्रभृति नाम प्रकल्प्य-क्रिय हैं। कारण, अवस्था-विशेषमें गो आदिमें क्रिया प्रत्यक्ष न होनेपर भी धातुके अर्थके अनुसार क्रियाकी कल्पना की जा सकती है। डित्थ, डवित्थ प्रभृति नामोंमें क्रियाकी कल्पना भी नहीं कर सकते। क्योंकि डित्थ, डवित्थ प्रभृति स्वयं सिद्ध शब्द हैं। इनका मूली-भूत कोई धातु नहीं है, जिसके अनुसार क्रियाकी कल्पना की जा सके, सुतराम् डित्थ, डवित्थादि नाम अविद्यमान-क्रिय हैं।

अतएव सिद्ध होता है, कि प्रत्यक्ष-क्रिय नाम धातुके अर्थके अनुसार प्रवृत्त हैं। इसलिये वे धातु-जात हैं। प्रकल्प्य-क्रिय नाम धात्वर्थके अनुसार प्रवृत्त नहीं होते, इसलिये वे धातु-जात भी नहीं हैं। गो आदि शब्द धातु-योगसे उत्पन्न होनेपर भी धातुका अर्थ अवलम्बन कर अभिधेय वस्तुका प्रतिपादन नहीं करते हैं। अतएव वहां वस्तुका नाम-करण भी धातुज नहीं है। अर्थात् गो आदि, शब्द-घटक गम् आदि धातुओंसे प्रतिपाद्य गमनादि क्रियाओंके अनुसार गो आदि वस्तुओंके नाम नहीं होते, सुतराम्, गो आदि नाम धातुके अर्थके अनुसार प्रवृत्त नहीं होते। इसलिये गो आदि नाम धातुज नहीं कहे जा सकते।

क्योंकि, शब्दके धातुसे उत्पन्न होनेपर भी नामकरण-विषयमें धातुकी कुछ भी अनुकूलता वा कार्य्य-कारिता नहीं है । प्रकल्प्य-क्रिय नामके सम्बन्धमें चाहे जो हो, पर अविद्य-मान-क्रिय नाम धातुज नहीं हैं,—यह हम इससे प्रथम ही दिखा चुके हैं ।

गार्ग्यका मत ।

प्राचीन निरुक्ताचार्य गार्ग्यने कुछ आपत्तियां उठाकर शाकटायन आदि आचार्य्योंके इस मतका कि—"सब नाम, धातुज हैं" प्रत्याख्यान किया है । उन्होंने जो आपत्तियां उठायी हैं, वे क्रमसे दिखायी जाती हैं ।

गार्ग्य कहते हैं कि नाम-घटक धातु-वाच्य क्रियाके अनुसार अथवा अभिधेय-वस्तु-गत क्रिया वा धर्म्मके अनुसार वस्तु-मात्र-का नामकरण होनेपर दो दोष होते हैं । प्रथम, अनेक वस्तुओं-में एक क्रियाका सम्बन्ध रह सकता है, इस कारण अनेक वस्तुओंका एक नाम हो सकता है । द्वितीय, एक वस्तुमें अनेक क्रिया वा धर्म्मोंका सम्बन्ध हो जाया करता है, इसलिये एक वस्तुके अनेक नाम हो सकते हैं । अर्थात् नाम-घटक धातु-वाच्य जिस क्रियाके सम्बन्धको जानकर जिस वस्तुका जो नाम हुआ है, उस वस्तुसे भिन्न अन्य वस्तुमें भी उसी क्रियाका सम्बन्ध रहनेके कारण वस्तुका भी वही नाम हो सकता है । एवं अभिधेय वस्तुमें केवल एकही क्रिया वा धर्म्म नहीं रहता, प्रत्येक वस्तुमें अनेक क्रियाएं वा धर्म रहते हैं । उनमेंसे एक क्रिया वा धर्म्मको लेकर जिस तरह एक नाम हुआ है,

वैसे ही दूसरी दूसरी क्रिया वा धर्मोंको लेकर और और भी नाम हो सकते हैं।

इन दोनों विषयोंको उदाहरणको सहायतासे समझानेकी चेष्टा की जाती है। घोड़ेका एक नाम अश्व है। व्याप्ति-अर्थवाले 'अश्' धातुसे 'अश्व' शब्द उत्पन्न हुआ है। इस स्थलपर 'अश्' धातुका समीपवर्ती अर्थ होता है—अध्व-व्याप्ति। अर्थात्; पथके साथ सम्बन्ध। घोड़ेमें अध्व-व्याप्ति है, इसलिये घोड़ेका नाम 'अश्व' है। अब देखना चाहिये कि अध्व-व्याप्ति 'अश्व' के नामका कारण होने पर घोड़ेके सिवा और जिस जिस वस्तुमें अध्व-व्याप्ति है, घोड़ेकी नाईं उस उस वस्तुका भी 'अश्व' नाम हो सकता है।

और एक उदाहरण दिया जाता है। एक प्रकारके उद्-भिद्का एक नाम है 'तृण'। हिंसार्थक तृद् धातुसे 'तृण' शब्द उत्पन्न हुआ है। सब जानते हैं कि इस उद्भिद् को पशु चरा करते हैं। सुतराम् उनके द्वारा वह हिंसित होता है, इसलिये इसका नाम 'तृण' है। हिंसित होना ही यदि तृण नामका कारण हो तब तो जो कोई वस्तु हिंसित होगी, वही तृण नाम-को धारण करेगी। धातु-वाच्य क्रियाके अनुसार वस्तुका नाम-करण हो तो, किस प्रकार अनेक वस्तुओंका एक नाम हो सकता है, सो दिखाया जा चुका, अब किस प्रकार एक वस्तुके अनेक नाम हो सकते हैं, सो दिखाया जाता है।

स्तम्भका वा खम्भेका एक नाम है—'स्थूणा'। अभिधेय-वस्तु-गत क्रिया वा धर्म्मके अनुसार वस्तुका नाम किया जाय तो

'स्थूणा' में जितनी क्रियाएं वा धर्म्म हैं, उन सब क्रिया वा धर्म्मों को लेकर 'स्थूणा' के अनेक नाम हो सकते हैं। जैसे 'स्थूणा' दर वा गर्त (गढ़े) में शयन करती है अर्थात् रहती है, इसलिये दर-शया शब्द भी 'स्थूणा' का नाम हो सकता है। और 'स्थूणा' पर टेढ़ा बांस सजता है, इस कारण 'सज्जनी' शब्द भी 'स्थूणा' का नाम हो सकता है। क्योंकि वस्तु-गत एक क्रिया वा धर्म्मको लेकर ही वस्तुका नाम होगा, और क्रिया वा धर्म्मों को लेकर न होगा; इसमें कोई कारण नहीं।

गार्ग्यकी उठायी हुई यह तीसरी आपत्ति है कि वस्तु-गत क्रियाके अनुसार यदि वस्तुका नाम होगा, तो जिस जिस शब्द-से जिस क्रियाका प्रतिपादन हो सकता है, वे सब शब्द उस वस्तुके नाम हो सकेंगे। इस स्थलपर भी उदाहरणोंसे सहायता ली जाती है। 'पुर' में अर्थात् शरीरमें शयन करता है, अर्थात् शरीर के साथ उसका सम्बन्ध है, इस कारण आत्माका नाम 'पुरुष' है। 'पुर' शब्द और शयनार्थ 'शी' धातुके योगसे पुरुष शब्द बना है। 'पुर-शयन'—प्रतिपादक 'पुरुष' शब्द जिस प्रकार आत्माका नाम है, उसी प्रकार 'पुरिशय' शब्द भी आत्मा का नाम हो सकता है। क्योंकि 'पुरिशय' शब्द भी 'पुरशयन'-को प्रतिपादन करता है; इसी प्रकार 'अष्टा' शब्द भी 'अश्व'-का नाम हो सकता है। कारण कि अष्टा शब्द भी व्याप्ति-अर्थक 'अश्' धातुसे सिद्ध हुआ है। एवं 'तृण' शब्दकी तरह 'तर्दन' शब्द भी हिंसार्थक 'तृद्' धातुसे उत्पन्न हुआ है। सुतराम्, 'तृण' शब्दके समान 'तर्दन' शब्द भी 'तृण'-संज्ञक

उद्भिद्का नाम हो सकता है। एक वस्तुमें अनेक क्रियाएं रहती हैं, इस कारण भिन्न भिन्न क्रियाओंके अनुसार एक वस्तु-के भिन्न भिन्न नाम हो सकते हैं,—यह दूसरी आपत्तिका विषय हैं। एक क्रियाके प्रतिपादक भिन्न भिन्न शब्द एक वस्तुके नाम हो सकते हैं—यह तीसरी आपत्ति है। अर्थात् अनेक क्रियाओंके अनुसार अनेक नामकी आपत्ति और एक क्रियाके अनुसार अनेक नामकी आपत्ति, क्रमसे गार्ग्यकी द्वितीय और तृतीय आपत्ति हैं।

गार्ग्यकी चतुर्थ आपत्ति यह है—"वस्तुके सिद्ध नामको लेकर शाकटायन प्रभृति आचार्य्यों ने विचार किया है कि यह नाम किस धातुसे उत्पन्न हुआ है और इस नामका क्या अर्थ हो सकता है?" गार्ग्यने कहा कि यह विचार अनर्थक है। कारण कि जो नाम सिद्ध है वा प्रसिद्ध है उसके धातुकी खोज करना व्यर्थ है। जिस वस्तुका जो नाम प्रसिद्ध है, वही वस्तु, उस नाम का अर्थ हैं। निदान, धातुके अर्थके अनुसार नामके अर्थ करनेकी चेष्टा भी वृथा है वा चेष्टा करना निरर्थक श्रम-मात्र है। यह सङ्गत भी नहीं है, इस विषयमें एक उदाहरण भी दिया जाता है।

शाकटायन प्रभृतिने कहा कि,—"प्रथनात् पृथिवी" प्रथनके सम्बन्धाधीन पृथिवी है। भूमि, प्रथित अर्थात् विस्तारित है, इसलिये इसका नाम पृथिवी हुआ है। इसके द्वारा जाना जाता है कि शाकटायनादिके मतमें भूमि स्वभावतः प्रथित नहीं है। किसी समय अप्रथित (सङ्कुचित) थी, पीछे प्रथित (विस्तारित) हुई है। इस जगह गार्ग्यने उपहास-पूर्व्वक प्रश्न

किया है कि इसको किसने प्रथित किया है ? किसने अपृथिवी-से पृथिवी बनायी ? एवं प्रथन-कर्ता—(विस्तार करनेवाले) ने किसी आधार पर स्थित होकर प्रथनक्रिया सम्पन्न की थी ? प्रथनक्रियाका कर्ता और आधार दोनों ही असम्भव हैं। सुतराम् प्रथन-क्रिया मिथ्या है। इसलिये "समस्त नाम धातुज हैं"—यह सिद्धान्त भ्रमात्मक है।

गार्ग्यने पांचवीं आपत्ति यह उठायी है कि समस्त नाम धातुज हैं,—यह प्रतिज्ञाकर शाकटायन बड़ा ही विपन्न हुआ है। स्थल-विशेषमें वह नामके 'धातुजत्व' की रक्षा करनेमें असमर्थ हो अद्‌भुत और उपहासास्पद उपायका आविष्कार करनेको वाध्य हुआ है! इसके उदाहरणमें 'सत्य' शब्दका उल्लेख किया जा सकता है। शाकटायनने अनन्योपाय हो 'सत्य' पदको 'सत्' और 'य'—इन दो भागोमें विभक्त किया है। तत्-पश्चात् भिन्न भिन्न दो पदोंसे वर्ण वा अक्षरोंको ग्रहण करते हुए दो भागका संस्कारकर,-'सत्य' शब्दके धातुजत्व-को रखनेकी चेष्टा की है। विद्यमानार्थक 'अस्' धातुसे 'अस्ति' पद वनता है। इस 'अस्ति' पदसे अकार सकार और तकार ग्रहण किये हैं। 'अस्ति' पदमें अकारके पीछे सकार है। किन्तु शाकटायनने वर्ण-विपर्यय-प्रणालीके अनुसार सकारसे परे अकार स्थापन कर 'सत्य' शव्दके पूर्वार्द्ध अर्थात् 'सत्' इस अंशका संस्कार किया है। एवं ज्ञानार्थक 'इण्' धातुके ण्यन्त रूप 'आययति' से यकार ग्रहण कर सत्य शब्दके उत्तरार्द्ध अर्थात् 'य' इस अंशका संस्कार सम्पन्न किया है।

इस प्रकार सत्+य, ये दोनों अर्द्ध-संस्कृत होनेपर व्याकरणके नियमानुसार 'सत्'का तकार यकारके साथ मिलकर यकारके ऊपरके भागमें जा मिलेगा। इस प्रक्रियानुसार 'सत्य' पद्के संस्कारका समाधान किया गया है। इस संस्कार वा व्युत्पत्तिके अनुसार सिद्ध होता है कि जो विद्यमान अर्थका अर्थात् यथार्थ अर्थका ज्ञान उत्पन्न करे, वही 'सत्य' है। एक पद्को अलग अलग अंशोंमें विभक्त कर उक्त रूपसे धातुजत्वकी रक्षा करनेके लिये किसी पूर्वाचार्यने यत्न वा परिश्रम नहीं किया। किन्तु इस प्रकार न करते तो शाकटायनकी प्रतिज्ञाकी रक्षा भी नहीं होती है। कारण, शाकटायनने इस प्रकारके अद्भुत उपायके सहारे अपनी प्रतिज्ञाको सत्य करनेकी चेष्टा की है।

गार्ग्यकी छठी आपत्ति यह है—अभिज्ञ आचार्य कहते हैं कि प्रथम वस्तु उत्पन्न होती है, उसके पीछे उसकी क्रिया हुआ करती है। क्योंकि क्रिया द्रव्यके आश्रित होती है। आश्रय वा अवलम्बनके विना क्रियाकी उत्पत्ति असम्भव है। सुतराम्, शाकटायनके मतमें उत्तर-काल-भाविनी क्रिया द्वारा पूर्वोत्पन्न वस्तुका नाम होता है, यह अवश्य कहना होगा। किन्तु यह हो सकता नहीं। कारण कि वस्तुका नाम वस्तुके साथ उत्पन्न होता है। उत्तर-काल-भाविनी क्रियाकी अपेक्षा न कर नामके साथ सम्बद्ध होकर ही वस्तु उत्पन्न हुआ करती है। क्योंकि शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध है। शब्द अर्थके और अर्थ शब्दके साथ सम्बद्ध विना हुए रहता नहीं और रह सकता भी नहीं। यदि ऐसा न हो तो शब्द और अर्थका सम्बन्ध नित्य

नहीं हो सकता, किन्तु अनित्य हो जाता हैं। किन्तु शाकटायनके मतमें यही होता हैं। क्यों कि वस्तुके उत्पन्न होनेपर उसकी क्रिया होगी। क्रिया होनेपर तब इस क्रियाके अनुसार वस्तुका नाम होगा। सुतराम्, वस्तुकी क्रियाकी उत्पत्तिके पीछे वस्तुके साथ नामका सम्बन्ध होता है। क्रियाकी उत्पत्तिसे पहले क्रियानुसारी नामका सम्बन्ध होना बिलकुल असम्भव है। अर्थात् क्रियाकी उत्पत्ति होनेसे प्रथम, उत्पन्न वस्तुका कुछ भी नाम न था—शाकटायन यह कहनेको वाध्य होते हैं। यह अत्यन्त हास्यास्पद है। अतएव समस्त नाम क्रियासापेक्ष नहीं, क्रिया-निरपेक्ष होते हैं।

यास्कका मत ।

निरुक्ताचार्य्य यास्क मुनिने, आचार्य्य गार्ग्यकी आपत्तियोंका जैसा उत्तर दिया है, उसे क्रमानुसार हम यहां दिखाते हैं। यास्क कहते हैं कि "वस्तुका क्रियानुसार नाम रखनेसे अनेक वस्तुओंकी एक क्रिया होनेसे अनेकका एक नाम हो सकता है—" गार्ग्यकी यह पहली आपत्ति असङ्गत है। कारण देखा जाता है कि जो लोग तुल्य कर्म्म करते रहते हैं, उसी कर्म्म द्वारा उनमेंसे व्यक्ति-विशेष वा श्रेणी-विशेषका ही नाम हुआ करता है, सबका नहीं होता। गार्ग्य भी इसे अस्वीकार नहीं कर सकते हैं, जैसे तक्षण (काटना-वाढ़ना) और परिव्रजन (चारों ओर फिरना) ये क्रियाएं अनेकोंके करने पर भी सूत्रधार-(खाती-)का नाम 'तक्षा' (काटनेवाला) और संन्यासीका नाम

परिव्राजक (फिरनेवाला) है। तक्षा वा परिव्राजक औरोंका नाम नहीं होता। क्यों ऐसा होता है? इस प्रश्नका उत्तर शाकटायनसे पूछना उचित नहीं, लोक-समुदायसे पूछना उचित है। क्योंकि यह नियम शाकटायनका चलाया हुआ नहीं है, लोक-प्रसिद्ध है।

देखनेमें आता है कि फल-लाभके लिये अनेक जन एक प्रकारके उपायका अवलम्बन कर यथोचित चेष्टा करते हैं, किन्तु उनमेंसे सबको अभिलषित फलका लाभ नहीं होता। इसी प्रकार अनेकोंका एक क्रियाके साथ सम्बन्ध रहनेपर भी उस क्रिया द्वारा किसीका नाम होता है और किसीका नाम नहीं होता, यह लोक-प्रसिद्ध है। शब्दका स्वभाव ही ऐसा है कि किसी क्रिया द्वारा किसी एक ही वस्तुका प्रतिपादन करता है, सब वस्तुओंका प्रतिपादन नहीं करता। गार्ग्यको भी इसके अस्वीकार करनेमें उपाय नहीं है। क्योंकि गार्ग्यके मतमें जो सब नाम धातुज नहीं हैं, अर्थात् रूढ़ हैं, वे सब नाम अर्थ-विशेषमें ही क्यों रूढ हुए? अर्थान्तरमें रूढ क्यों न हुए? 'अश्व' शब्द घोड़ेका ही नाम हुआ, और किसीका नाम क्यों न हुआ? इन प्रश्नोंके उत्तरमें गार्ग्यको वाध्य होकर कहना पड़ेगा कि यह लोक-प्रसिद्ध वा शब्दका स्वभाव है। सुतराम्, शाकटायनके पक्षमें इस बातसे कुछ भी दोष नहीं हो सकता। जो जो व्यक्ति अत्यन्त वा नियमसे तक्षण (काटनेका काम) वा परि-व्रजन (परिगमन) करते हैं, उनका नाम 'तक्षा' और 'परिव्राजक' है—यह शब्दका स्वभाव-सिद्ध और लोक-प्रसिद्ध धर्म्म है।

"एक वस्तुके साथ अनेक क्रियाओंका योग रहनेसे प्रत्येक क्रियाके अनुसार नाम-करण होकर एक वस्तुके अनेक नाम हो सकते हैं"—गार्ग्यकी यह द्वितीय आपत्ति भी उल्लिखित प्रकारसे ही दूर हो जाती है। कारण, एक वस्तुसे अनेक क्रियाओंका योग रहनेपर भी किसी एक ही क्रियाके अनुसार उसका नाम हुआ करता है—यह शब्दका स्वभाव एवं लोक-प्रसिद्ध व्यवहार है। 'तक्षा' और परिव्राजक' तक्षण और परिव्रजनके समान और और क्रियाएं भी किया करते हैं, किन्तु उन सब क्रियाओंको लेकर उनका नाम नहीं होता, 'तक्षण' और 'परिव्रजन' क्रियाओंके अनुसार ही नाम-करण होता है, क्योंकि 'तक्षा' और परिव्राजक शब्दकी तरह और और क्रिया-प्रतिपादक शब्दोंका वैसा स्वभाव और प्रसिद्धि नहीं है।

गार्ग्यकी तृतीय आपत्ति भी इसके द्वारा खण्डित हो गयी। "जिस क्रियाके अनुसार वस्तुका नाम होवे और जिस जिस शब्दसे वह क्रिया प्रतिपादित हो सकती है, वे समस्त शब्द ही उस वस्तुके नाम होने चाहिये, वा उन समस्त शब्दों द्वारा वस्तुका निर्द्देश होना चाहिये"—यही गार्ग्यकी तृतीय आपत्ति है। इसके उत्तरमें अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं है। जो कुछ कहा गया है, वही यथेष्ट है। शब्द-स्वभाव एवं लोक-प्रसिद्धिके अनुसार जिस वस्तुका जो नाम है, परीक्षक (पण्डित) जन उसकी परीक्षा वा अन्वाख्यानमात्र करते हैं। परीक्षक लोग शब्दके प्रयोक्ता नहीं हैं, वे लोक-प्रयुक्त शब्दके विषयकी आलोचना किया करते हैं। ऐसी अवस्थामें परीक्षकोंको

उपालम्भ न दे और उनका उपहास न कर प्रयोक्ता लोगोंको ही उपालम्भ देना और उनका उपहास करना गार्ग्यको उचित है। अथवा सामर्थ्य हो तो वे प्रयोक्ताओंके व्यवहारको निवारण कर सकते हैं।

"निष्पन्न नामके सहारे परीक्षा वा विचार करना अन्याय है"—यह गार्ग्यकी चतुर्थ आपत्ति है। यह आपत्ति भी असङ्गत है। कारण, नामकी निष्पत्ति होनेपर ही उसके योगार्थकी परीक्षा हो सकती है। नामके निष्पन्न न होनेपर किसका अर्थ परीक्षित होगा ? विचारके विषयके विना किसी विचारमें प्रवृत्ति होना कोई भी बुद्धिमान् पुरुष उचित नहीं समझेगा।

"प्रथनात् पृथिवी" शाकटायनके इस मतपर जो प्रश्नके मिष कटाक्ष किये गये हैं, वे भी असङ्गत हैं। क्यों कि शाकटायन कह सकते हैं, कि और किसीके द्वारा प्रथित न होनेपर भी भूमि प्रथित है अर्थात् उसका आकार विस्तृत है और इसीलिये उसका नाम पृथिवी है। पृथिवीका पृथुत्व प्रत्यक्ष-दृष्ट है। इसमें विवाद नहीं हो सकता। इस तरह देखते हैं, कि शाकटायनका यथार्थ अभिप्राय न समझनेके कारण ही गार्ग्यने चतुर्थ आपत्तिकी अवतारणा की है (१)।

शाकटायनने पद-विभाग पूर्वक दो धातुओं द्वारा सत्य शब्दकी व्युत्पत्ति की है, यह गार्ग्यके मतमें दूषणीय है और यही इनकी पञ्चम आपत्ति है। यह आपत्ति भी सङ्गत नहीं

(१) स्वप्रतिष्ठित किसी भी महापुरुषने पृथिवीको प्रथित किया है, यह बात भी अनायास ही कह सकते हैं।

है और यह शाकटायनके तात्पर्य न जाननेके कारण ही समुद्‌-भावित हुई है। क्योंकि यदि दोनों धातुओंसे व्युत्पन्न करनेपर भी 'सत्य'शब्दका प्रकृत अर्थ प्रकाशित न हो तो निःसन्देह शाकटा-यन निन्दनीय होते, परन्तु यह तो हुआ नहीं, शाकटायनने सत्य शब्दके द्वारा प्रतिपादित अर्थको अनुगतार्थक दोनों धातुओंके द्वारा ही संस्कृत किया है। सुतराम्, गार्ग्यकी पञ्चम आपत्ति अशिक्षित पुरुषकी आपत्तिके समान उन्हींकी निन्दाका कारण है।

इस प्रकारके अशिक्षित पुरुष भी बहुत हैं, जो एक धातुसे उत्पन्न हुए नामके धातुजत्वको भी नहीं जानते। अनेक धातु-ओंसे उत्पन्न हुए नामकी तो बात ही नहीं। जिस नामकी क्रिया नितान्त अभिव्यक्त है, वैसे पाचक, लावक प्रभृति शब्द किस किस धातुसे उत्पन्न हुए हैं—इतना भी नहीं जानते, इस प्रकारके लोगोंका भी अभाव नहीं है। जो लोग शब्दका अर्थ धातुके द्वारा अनुगत नहीं कर सकते हैं, वेहो गर्हणीय हैं। जो लोग शब्दका अर्थ एक धातु व अनेक धातुओंके द्वारा अनुगत करनेमें समर्थ हैं, वे ही प्रशंसाके योग्य हैं। वे किसी प्रकार गर्हणीय नहीं हो सकते।

पाचक, लावक प्रभृति कितने ही नाम प्रकट-क्रिय हैं, अर्थात् किस क्रियाके अनुसार ये नाम हुए हैं, इस बातको शिक्षितमात्र ही सहजमें समझ सकते हैं। 'सत्य' प्रभृति जो सब नाम अप्रती-तार्थ हैं, अर्थात् जिनकी क्रिया सहसा प्रतीत नहीं होती, प्रकृति प्रत्ययादिके विभाग द्वारा उनको प्रतीतार्थ करना ही परीक्षकका कार्य है। उसीसे व्युत्पादयिताके पाण्डित्य वा शिक्षा

का उत्कर्ष प्रकट होता है। और भी विचारना चाहिये, कि अनेक धातुओंके द्वारा एक पदका निर्वचन, वेदानुसार ही है, यह कुछ शाकटायनकी बुद्धिमात्रसे उत्प्रेक्षित नहीं है। सुतराम्, अनेक धातुओंके द्वारा एक पदका व्युत्पादन किया है, इस कारण शाकटायनका उपहास करना, गार्ग्यके लिये उचित नहीं हुआ।

शतपथ ब्राह्मणमें हृ धातु, दा धातु और इण् धातु इन तीनों धातुओंके द्वारा हृदय शब्द व्युत्पादित किया गया है एवं प्रत्येक अक्षरका व्युत्पत्ति-वेत्ताने तदनुरूप फल कहा है। शतपथ ब्राह्मणके मतमें 'हृ' धातुका हृ, 'दा' धातुका द और 'इण्' धातु-निष्पन्न आययति पद का य,—इस प्रकार धातु-त्रयसे अक्षर-त्रय ग्रहण कर 'हृदय' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। 'छान्दोग्योपनिषद्' में 'हृदय' शब्दकी अन्य प्रकारसे व्युत्पत्ति दिखायी गयी है।

"पर-भाविनी क्रियाके द्वारा पूर्व्व-जात वस्तुका नाम-करण होने पर शब्दार्थ-सम्बन्धकी नित्यताका सिद्धान्त भंग हो जायगा"—गार्ग्यकी यह छठी आपत्ति भी अकिञ्चित्-कर है। कारण, पर-भाविनी क्रियाके द्वारा पूर्व-जात वस्तुकी संज्ञा वा व्यपदेश अनेक स्थलोंमें देखा जाता है। उदाहरणके लिये यहां 'विल्वाद' और 'लम्बचूड़क' शब्दोंका उल्लेख किया जा सकता है। क्योंकि पर-कालीन विल्वादन क्रिया और चूड़ालम्बन क्रियाके साथ भविष्यत् योग वा सम्बन्धके सहारे पूर्व-कालोत्पन्न वस्तुका नाम देखा गया है। इस स्थलपर क्रियाकी उत्पत्तिके पीछे वस्तुका नाम नहीं हुआ। क्रियाके भविष्यत् सम्बन्धका अनुसरण कर प्रथम ही वैसा नाम हो गया है।

"पुरोडाश-कपालेन तुषानपनयति"—इस श्रुतिसे भविष्य पुरोडाशके सम्बन्धके अनुसार कपाल-विशेष, पुरोडाश-कपाल शब्दसे निर्दिष्ट हुआ है। यह मीमांसा-दर्शनका सिद्धान्त है। उक्त प्रकारसे गार्ग्यकी आपत्तियोंका निराकरण होनेके कारण-समस्त नाम धातुज हैं—शाकटायनका यह सिद्धान्त सम्पूर्ण रीतिसे निर्दोष एवं समर्थित हुआ, इसमें कोई सन्देह नहीं।

"रूढ शब्दकी व्युत्पत्ति अनावश्यक है" यह भी असङ्गत है। क्योंकि वेदमें रूढ शब्दोंकी भी व्युत्पत्ति प्रदर्शित हुई है। घृतका एक नाम है—'सर्पिः'। सर्पिस् शब्द घृतमें रूढ है तथापि वेदमें गमनार्थक सृप् धातुसे सर्पिस् शब्द व्युत्पादित हुआ है। यतः घृत सर्पित होता है, अतएव इसका नाम है—सर्पिः। क्योंकि घृत क्षरित होकर, अग्नि में हुत होता है। सुर और असुर शब्द यथाक्रम देव और देव-शत्रुमें रूढ हैं। किन्तु वेदमें दोनों शब्दोंकी व्युत्पत्ति दिखायी गयी है। 'सु' शब्द प्रशस्त-वाचक और 'असु' शब्द अप्रशस्त-वाचक है। 'सु' और 'असु' शब्दके उत्तर मत्वर्थक 'र' प्रत्यय होकर सुर और असुर शब्द व्युत्पादित होते हैं। श्रुतिने कहा है, कि प्रजापतिकी प्रशस्त आत्मासे उत्पन्न होनेके कारण देवता सुर-शब्द-वाच्य हैं और प्रजापतिकी अप्रशस्त आत्मासे उत्पन्न हुए इसलिये देव-शत्रु असुर-शब्द-वाच्य हैं। धातु-प्रत्ययके योगसे रूढ शब्द व्युत्पादनके सैकड़ों उदाहरण वेदमें विद्यमान हैं। व्याकरणके उणादि प्रकरणमें बहुतसे रूढ शब्द व्युत्पादित हुए हैं। अतएव "समस्त नाम धातुज हैं"—शाकटायनका यह

सिद्धान्त वेदानुसारी एवं व्याकरण-सम्मत है । सुतराम्, अभ्रान्त समीचीन और आदरणीय है ।

निरुक्तके अनुसार नामोंकी निर्वचन-प्रणाली ।

समस्त नामोंके धातुजत्वके उपपादनके लिये किस प्रकार-की निर्वचन-प्रणालीका अनुसरण करना होगा, इस विषयमें निरुक्ताचार्य यास्कने जो संक्षिप्त उपदेश दिया है, उसका स्थूल तात्पर्य दिखाया जाता है । यास्क कहते हैं, 'जो नाम व्याकरण-प्रसिद्ध प्रक्रियाके अनुसार व्युत्पादित होनेपर अनुगतार्थक होते हैं, अर्थात् अभिधेय-वस्तु-गत क्रियादिको यथावत् प्रतिपादन करनेमें समर्थ होते हैं, व्याकरण-प्रसिद्ध प्रक्रियाके अनुसार ही उनका व्युत्पादन करना होगा । क्योंकि वैसा होनेसे ही व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थके अवलम्बन करनेपर ये सब नाम अनायास ही अभिधेय वस्तुका प्रतिपादन कर सकेंगे ।

जिस जगह व्याकरण-प्रसिद्ध प्रक्रियाके अनुसार व्युत्पन्न नाम अनुगतार्थक नहीं है, अर्थात् नामका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ, अभिधेय वस्तुके साथ साक्षात् सम्बन्धसे संगत नहीं होता, उस जगह अर्थके प्रति अर्थात् जिस वस्तुमें नामका प्रयोग होता है; उसी वस्तुके प्रति प्रधानतः लक्ष्य रखकर व्युत्पति-लभ्य अर्थकी किसी प्रकार सामान्य वा सादृश्यके अवलम्बन-पूर्वक परीक्षा करनी होगी । अर्थात् सब जगह जिस अर्थमें नामका प्रयोग हुआ करता है—व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थके साथ उस अर्थका कैसा मेल (सादृश्य) है, सो निरूपण करना होगा ।

सादृश्य निरूपित होनेके पीछे सादृश्यके सहारे व्युत्पत्ति लभ्य अर्थसे भिन्न अर्थमें भी नामका प्रयोग हुआ है, यह निश्चय करना होगा। विशेष मनोयोगके साथ निरूपण करनेके लिये प्रवृत्त होनेपर भी जिस जगह किसी प्रकारका अर्थ प्रतीत न होगा, उस जगह शब्द-सामान्यके अनुसार निर्वचन करना होगा। अमुक धातुमें यह वर्ण देखा गया है, इस नाममें भी वही वर्ण देखा जाता है,अतएव इस धातुसे इस नामकी उत्पत्ति हुई है, इस प्रकार निश्चय करना होगा। अर्थात् जिस धातुके साथ नाम-गत वर्णका सादृश्य है, उसी धातु द्वारा उसी नाम-का निर्वचन करना होगा। उस स्थलपर व्याकरणके नियमके प्रति आदर दिखानेकी आवश्यकता नहीं। क्योंकि पद-निष्पन्न करनेके लिये वैयाकरणोंने प्रकृति-प्रत्ययकी बहुतसी विकृतियां कर दी हैं। नैरुक्त लोग भी यही करेंगे।

इस प्रकार नाम व्युत्पादित कर उसी धातुका अर्थ उसी नाममें स्थापित करना होगा। धातुका अर्थ सहजमें अभिधेय वस्तुके साथ सङ्गत न होनेपर प्रयोजनानुसार धात्वर्थका विस्तार और संकोचादि करके निर्वचन निष्पन्न किया जायगा। व्यु-त्पत्तिकी ऐसी प्रणाली प्राचीन वैयाकरण लोगोंको भी मान्य है। इसीलिये वैयाकरणाचार्यों ने कहा है कि—

"वर्णागमो वर्ण-विपर्य्ययश्च द्वौ चापरौ वर्ण-विकार-नाशौ। धातोस्तदर्थातिशयेन योगस्तदु च्यते पञ्च-विधं निरुक्तम्॥"

वर्णका आगम, वर्णका विपर्यय, वर्णका विकार, वर्णका नाश और धातुके अर्थके अतिशयके साथ धातुका योग, निर्वचनके ये पांच प्रकार, कहे जाते हैं। वर्णागम आदिके उदाहरण भी पूर्वाचार्योंने दिखाये हैं। यथा—

"वर्णागमो गवेन्द्रादौ सिंहे वर्ण-विपर्ययः।
षोडशादौ विकारः स्याद्वर्ण-नाशः पृषोदरे॥"

गो=इन्द्र इन दो शब्दोंके योगसे 'गवेन्द्र' शब्द व्युत्पन्न हुआ है। व्याकरणके नियमानुसार 'गवेन्द्र' न होकर 'गविन्द्र' हो सकता था। इस स्थलमें गो शब्दसे परे एक अकारके योगसे 'गवेन्द्र' होगया। हिंसार्थक 'हिन्स' धातुसे 'सिंह' उत्पन्न हुआ है। व्याकरणके नियमानुसार 'सिंह' न होकर 'हिंस' हो सकता है। इस जगह हंकार और संकारका विपर्य्यय कर सिंह शब्द सिद्ध हुआ है। 'षड्' और 'दश' शब्दोंके योगसे 'षोडश' शब्द हुआ है। व्याकरणके नियमानुसार 'षड्दश' हो सकता। किन्तु षष् शब्दके शेष षकारके स्थानमें उकार तथा दश शब्दके दकार-स्थानमें डकार किया गया है। इस प्रकार वर्ण-विकार-प्रणाली द्वारा 'षोडश' शब्द सिद्ध हुआ है। पृषत्‌उदर इन दो शब्दोंके योगसे 'पृषोदर' पद हुआ है। व्याकरणके नियमानुसार 'पृषदुदर' हो सकता था। किन्तु पृषत् शब्दके तकारका लोपकर देने पर पृषोदर पद सिद्ध हो गया।

नैरुक्त और वैयाकरणोंके मतमें रूढ शब्दकी भी व्युत्पत्ति

करनी होगी, यह स्थिर हुआ। मीमांसा-भाष्यकार आचार्य शवरस्वामी रूढ शब्दोंकी व्युत्पत्तिके पक्षपाती नहीं हैं। उन्होंने अपने मीमांसा-भाष्यमें कहा है, कि "जिस शब्दकी जिस अर्थमें प्रसिद्धि है, उस शब्दका वही अर्थ ग्रहण करना होगा।" निरुक्त व्याकरणादि द्वारा अर्थकी कल्पना न की जायगी। कारण, निरुक्तादि द्वारा अर्थ-कल्पना करनेसे अर्थ व्यवस्थित अर्थात् निश्चित नहीं होता। क्योंकि व्युत्पत्तिके अनुसार कल्पित अर्थ, अभिमत वस्तुमात्रमें सीमाबद्ध नहीं रह सकता। सुतराम्, व्युत्पत्तिके अनुसार अभिमत वस्तुकी तरह अपर वस्तुमें भी इस शब्दका अर्थ होसकता है। अतएव जिस शब्दकी जिस अर्थमें प्रसिद्धि है, उस शब्दका वही अर्थ ग्रहण करना चाहिये।

आर्य्य लोगोंके व्यवहारमें जिस शब्दकी किसी अर्थमें प्रसिद्धि नहीं है, अथच उसी शब्दकी म्लेच्छोंके व्यवहारमें अर्थ-विशेषमें प्रसिद्धि है, उस शब्दका म्लेच्छ-व्यवहार-प्रसिद्ध अर्थ भी ग्रहण किया जायगा। जैसे पिक, नेम, तामरस, सत प्रभृति शब्दोंका आर्य्य-व्यवहार-प्रसिद्ध अर्थ न रहनेसे म्लेच्छ-प्रसिद्धिके अनुसार पिक शब्दका अर्थ कोकिल, नेम शब्दका अर्थ अर्द्ध, तामरस शब्दका अर्थ पद्म और सत शब्दका अर्थ, शतछिद्र वर्तुलाकार काष्टमय पात्र है। आर्य्य और म्लेच्छोंके व्यवहारमें जो शब्द किसी भी अर्थमें प्रसिद्ध नहीं हैं, निरुक्त और व्याकरणानुसार उन सब शब्दोंके अर्थकी कल्पना करनी होगी।

शवरस्वामीका यह सिद्धान्त वस्तुगत्या प्रस्तावित विषय-

का विरोधी नहीं है, क्योंकि नैरुक्त और वैयाकरण आचार्य रूढ शब्दोंका व्युत्पादन एवं व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थकी लोक-प्रसिद्ध अर्थमें अर्थात् अभिधेय वस्तुसे सङ्गतकर अपना पाण्डित्य और कौशल प्रकाश करते हैं सही, किन्तु वे भी रूढ शब्दका प्रसिद्ध अर्थ हो ग्रहण किया करते हैं। यह प्रथम ही दिखाया जा चुका है। शब्दकी व्युत्पत्ति दिखाना उनका कर्तव्य है, इसलिये वे रूढ शब्दको भी व्युत्पत्ति दिखा दिया करते हैं।

स्मरण रखना चाहिये कि शब्दको व्युत्पत्ति दिखा देना ही निरुक्तादि शास्त्रोंका उद्देश्य है। इसीलिये निरुक्तादि शास्त्र प्रणीत हुए हैं। सुतराम् नैरुक्त और वैयाकरण, रूढ शब्दकी भी व्युत्पत्ति दिखानेको वाध्य हैं। मीमांसा-दर्शनका उद्देश्य अन्य प्रकारका है। सन्दिग्ध स्थलमें असदर्थ-निराश-पूर्व्वक वेदकी सदर्थ व्याख्या अर्थात् आलोचनामात्रमें वा आपाततः विरुद्धार्थ रूपसे प्रतीयमान सब वेद-वाक्योंकी मीमांसा करनेके उद्देश्यसे मीमांसा-दर्शन प्रणीत हुआ है। इसलिये मीमांसा-भाष्यकारने रूढ शब्दोंके व्युत्पादनकी कुछ आवश्य-कता नहीं समझी। क्योंकि शब्दकी व्युत्पत्ति दिखाना उसका कार्य्य नहीं है। सत् अर्थका व्यवस्थापन कर देना ही उसका कार्य्य है। नैरुक्त प्रभृति आचार्य एवं मीमांसा-भाष्यकार दोनोंने ही शब्दके प्रसिद्ध अर्थको ग्रहण करनेके लिये कहा है। किन्तु निरुक्ताचार्य्योंने शब्दकी व्युत्पत्ति दिखायी है। मीमांसा-भाष्यकारने वैसा किया नहीं, इन दोनोंमें बस इतनाही भेद है, फलितार्थमें कुछ भी विरोध नहीं होता।

पिक आदि शब्दोंका म्लेच्छ प्रसिद्ध-अर्थ ग्रहण किया है, इससे कोई यह न समझे कि ये शब्द म्लेच्छ-भाषासे लिये गये हैं और इसलिये तत्तत्-शब्द-घटित वेद-वाक्य सब आधुनिक हैं। क्योंकि शब्द यदि मनुष्य-निर्मित होते तो इस प्रकारकी आशङ्का करनी सङ्गत होती। किन्तु वास्तवमें वैसा नहीं है। मीमांसा-दर्शनके मतमें शब्द-राशि किसी मनुष्य वा अन्य किसीसे निर्मित नहीं हुई है। यह नित्य है। मनुष्य केवल उसका प्रकाश वा व्यवहार करते हैं। महाभाष्यकारने इस मतके लिये एक कौतुकावह हेतुका उपन्यास किया है। वे कहते हैं कि—शब्द मनुष्य-निर्मित होनेपर संस्कृत शब्द वैयाकरण पण्डितोंके बनाये हुए हैं, यह अवश्य कहना होगा। घट, शराव (सिकोरा) आदिका प्रयोजन उपस्थित होनेपर लोग कुम्भकारके घर जाकर कहते हैं कि हमें इतने घटादिका प्रयोजन उपस्थित हुआ है, सो प्रस्तुत कीजिये, हम व्यवहार करेंगे।

उसी प्रकार शब्दोंके मनुष्य-निर्म्मत होनेसे लोग वैयाकरण पण्डितोंके घरमें जाकर कहते, कि हमें आवश्यकता है। हमारे लिये इतने शब्द प्रस्तुत कर दीजिये, उनका हम व्यवहार वा प्रयोग करेंगे। किन्तु ऐसा कोई भी नहीं करता। अतएव शब्द नित्य हैं, मनुष्य निर्मित नहीं। जो हो, शब्दकी नित्यता, मीमांसा-दर्शनमें समीचीन युक्तियों द्वारा समर्थित हुई है। शब्दके नित्य होनेपर म्लेच्छ-भाषासे शब्दके ग्रहण करनेकी आशङ्का नहीं हो सकती। कारण, नित्य शब्द, जल और अनल आदि-

की तरह सभीकी साधारण सम्पत्ति हैं और सभीके लिये यथेच्छ-व्यवहार्य्य हैं। जाति-विशेषमें शब्द-विशेषके प्रयोग-की विरलता और प्राचुर्य्य जाति-विशेषकी अवस्थानुसार हुआ करता है। जिस शब्दका जिस अर्थमें जो जाति प्रचुर व्यवहार करे, उस जातिके लिये उस शब्दका वही अर्थ प्रसिद्ध है, औरोंके लिये अप्रसिद्ध रहता है। इतना ही इस विषयमें प्रभेद है। व्यवहारकी प्रचुरता ही प्रसिद्धिका कारण है और व्यवहारकी विरलता ही काल पाकर संकेतके विस्मरणका हेतु हो जाती है।

योरपीय पण्डितोंकी अवलम्बित प्रणालीके अनुसार जो लोग उक्त कारणसे वेद-वाक्योंकी आधुनिकता सिद्ध किया चाहते हैं, उनको स्मरण रखना उचित है कि एकत्रवासी एक आदिम जातिसे काल पा, दो शाखाएं दो भिन्न भिन्न देशोंमें पहुंचकर आर्य्य और म्लेच्छके नामसे प्रसिद्ध हुई हैं, यह भी योरपोय पण्डितोंका ही सिद्धान्त है। सुतराम् कथित कारणसे पिकादि-शब्द-घटित वेद-वाक्योंका आधुनिकत्व सिद्ध नहीं होसकता। देशान्तर पहुंचकर भी एक शाखाने इन शब्दोंका बाहुल्यसे व्यवहार किया है, सुतराम् इन सब शब्दोंका अर्थ उनमें प्रसिद्ध है, अन्य शाखाका व्यवहार अल्पसे अल्पतर होनेके कारण वहांपर अर्थ अप्रसिद्ध होगया है। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं कहा जा सकता।

एक आदिम जातिकी ही एक शाखा आर्य जाति और दूसरी शाखा म्लेच्छ जातिके नामसे विख्यात हुई है,

हमारा अङ्गीकृत सिद्धान्त नहीं है। योरपीय प्रणालीके अनुसार उसका उत्तर दिया जा सकता है—यह दिखाना ही हमारा उद्द श्य है। उक्त विषयमें हमने क्या सिद्धान्त किया है, इस जगह उसका कहना निष्प्रयोजन है।

निरुक्ताचार्य यास्कने अर्थ-सामान्यके अनुसार निर्वचन करनेका जो उपदेश दिया है; उसके उदाहरण-स्थलमें प्रवीण, उदार प्रभृति शब्द उल्लेख योग्य हैं। "प्रकृष्टो वीणायां"— अर्थात् वीणा-विषयमें प्रकृष्ट इस अर्थमें 'प्रवीण' शब्द व्युत्पादित है। अतएव गान्धर्व-विद्यामें निपुण व्यक्ति ही प्रवीण शब्दका असली अर्थ है। अभ्यास-जनित पटुताके न होनेसे प्रकृष्ट या दक्ष नहीं हुआ जा सकता। सुतराम् गान्धर्व-विद्यामें दक्ष व्यक्तिके अवश्यही अभ्यासमें पटुता है।

इसी अभ्यास-पाटव-रूप सामान्य (अर्थ) का अवलम्बन कर अन्यत्र भी प्रवीण शब्दका प्रयोग हुआ करता है। जिस व्यक्तिने जिस विषयमें परिश्रम-पूर्व्वक कौशल लाभ किया है, उसको उसी विषयमें प्रवीण कहा गया है। जैसे—व्याकरणमें प्रवीण, दर्शनमें प्रवीण इत्यादि। और भी दूरतरका सादृश्य लेकर लोकमें प्रवीण शब्दका प्रयोग किया जाता है। प्रवीण व्यक्ति कौशल सम्पन्न होता है, सुतराम् उसमें महत्व है। यह महत्व अवश्य ही गुण-गत है। किन्तु परिमाण-गत महत्वको लेकर भी कभी कभी लोगोंमें इसका प्रयोग किया जाता है। जैसे—प्रवीण बृक्ष, प्रवीण मत्स्य इत्यादि।

नहीं ह्वार' शब्दका अर्थ है—कशा (चाबुक) का प्रान्तभाग।

सारथिके कशा उठाने मात्रसे अर्थात् पीठ पर कशाका प्रान्त मारनेसे पूर्व ही जो अश्व वा बलीवर्द् सारथिका अभिप्राय समझ कर चलता है, उसका नाम 'उदार' है। क्योंकि 'आर' अर्थात् कशाका प्रान्त-भाग उसकी पीठसे ऊपरही रहा है, पीठके साथ अभी आरका सम्बन्ध नहीं। वैसेतो अश्वआदि ही उदार शब्द्के साहजिक अर्थ हैं ; किन्तु अभिप्राय समझकर कार्य्य करना—इस सामान्य वा सादृश्यका अवलम्बन कर जो दाता, प्रार्थीका अभिप्राय लक्ष्य कर प्रार्थना करनेसे पूर्व ही अभिलषित वस्तु-प्रदान करें, उनको भी 'उदार' कहा गया है। वर्ण-सामान्यके अनुसार निर्वचनके प्रचुर उदाहरण निरुक्त ग्रन्थमें पाये जाते हैं, विस्तार-भयसे यहां दिखाये नहीं गये।

वैदिक-नामकरण-प्रणालीका आभास पहले ही दिया जा चुका है। निरुक्त ग्रन्थमें वही अनुसृत, व्याख्यात और पल्लवित हुआ है। उदाहरण-स्वरूप यहां अग्नि शब्दकी निर्वचन-प्रणाली दिखायी जाती है। अग्नि क्या पदार्थ है, इस विषयमें मत-भेद है। आत्मवादी कहते हैं कि एक आत्मा ही विभूति-योगसे नाना रूपोंमें अवस्थित है, अतएव समस्त शब्द ही नाना भावोंमें अवस्थित आत्माका ही प्रतिपादन करते हैं। "लोक-वेद-प्रसिद्ध यज्ञाङ्ग देवता-विशेषका नाम अग्नि है"—यह याज्ञिक लोगोंका मत है। "पृथिवी-स्थित ज्योतिः-पदार्थ-विशेष, अग्नि है"—यह निरुक्तकारोंका अभिमत है, इस अन्तिम अर्थके प्रति लक्ष्य रखकर अग्नि पदका निर्वचन दिखाया गया है।

'अग्र' शब्द और 'नी' धातुके योगसे 'अग्रणी' शब्द व्युत्पन्न हुआ है।

अग्र शब्दका 'अग्' अंश एवं 'नी' धातुके दीर्घ ईकारको ह्रस्वके रूपमें विकृत कर 'नी' धातुका 'नि' अक्षर ले 'अग्नि' नाम सिद्ध किया गया है। जिससे कि सब विषयोमें ये निज-को अग्र (आगे) ले जाते हैं, अथवा यह देवताओंके अग्रणी अर्थात् सेनापति(१) हैं, अथवा यज्ञ-कर्म्ममें ये प्रथम नीत अर्थात् प्रणीत हैं, इससे इनका नाम अग्नि है। अथवा क्या लौकिक क्या वैदिक, जिस कर्म्ममें ये साधक रूपसे उपस्थित होते हैं, वहां आप प्रधान हो और सबको अपनी अङ्गतामें ले जाते हैं, अर्थात् गुणीभूत कर देते हैं, इस लिये इनका नाम अग्नि है।

"अङ्ग नयति इत्यग्निः" अथवा यह तृण वा काष्ठ जिस किसीको भी छूता है, उसे ही अपनी अङ्गतामें ले आता है अर्थात् उसे अपना रूप बना लेता है इसलिये इसका नाम अग्नि है।

स्थौलाष्ठीवि आचार्य्यके मतमें, अक्नोपन अर्थात् रुक्षकारी होनेसे इनको अग्नि कहा जाता है। इस मतमें अक्नोपन शब्दसे वर्ण-लोप और वर्ण-विकार-प्रक्रियाके अनुसार अग्नि पद निष्पन्न हुआहै। शाकपूणि आचार्यने तीन धातुओं द्वारा अग्नि पदका निर्वचन किया है। वर्ण-विकार-प्रक्रियाके अनुसार गत्यर्थक 'इण्' धातुका अकार, प्रकाशार्थक 'अञ्ज' धातु वा दाहार्थक 'दह्' धातुका गकार एवं प्रापणार्थक 'नी' धातुका 'नि' इस प्रकार

(१) अग्नि देवताओंका सेनापति है, यह श्रुति-सिद्ध बात है।

तीन धातुओंसे तीन अक्षर ग्रहण कर अग्नि शब्द सिद्ध वा संस्कृत हुआ है। कारण, यही धातु-त्रय-वाच्य क्रियाएं ही अग्नि में हैं। अग्नि, गति-क्रिया-युक्त, रूपका प्रकाशक वा पार्थिव वस्तुओंका दाहकारी है एवं हवनीय द्रव्योंको देवताओंके उद्देश्यमें पहुंचाता हैं।

वाक्यका आदि और अन्त वर्ण लेकर भी निर्वचन देखनेमें आता है। "बलादतीत:"—इस वाक्यके आदि और अन्त्य अक्षरोंको लेकर 'बत' शब्द दुर्बल व्यक्तिमें प्रयुक्त हुआ है। लोकमें भी स्थल-विशेषमें इस प्रकारका व्यवहार देखनेमें आता है। देश-विशेषमें पुष्करणीको 'पुणी' शब्दसे कहा गया है। 'कुर्वाण'—इस पदके उकार और वकारका लोप कर 'क्राणा' शब्दका निर्वचन किया गया है। स्मृति, पुराणादिमें भी निरुक्तकी ही निर्वचन-प्रणालीका अनुसरण किया गया है—

"जयं पुण्यञ्च कुरुते जयन्तीमिति तां विदुः।"

जय और पुण्यको करती है, इसलिये उसका नाम जयन्ती है। इस जगह "जयं पुण्यञ्च कुरुते" इस वाक्यका "पुण्यं च कुरु"—यह अंश वर्ण-लोप-प्रणालीके अनुसार लुप्त और वर्ण-विकार-प्रक्रिया द्वारा 'ते' इस पदका एकार ईकारमें परिणत कर जयन्ती नाम निष्पन्न किया गया। मनु-संहितामें वक्ष्य-माण रीतिसे 'शरीर' शब्दकी व्युत्पत्ति देखी जाती है—

"यन्मूर्त्यवयवाः सूक्ष्मास्तस्येमान्याश्रयन्ति षट्
तस्माच्छरीरमित्याहुस्तस्य मूर्तिं मनीषिणः ॥"

"जिससे कि सब देह उसी ब्रह्मकी मूर्त्तिके अहंकार और पञ्च तन्मात्र इन छै सूक्ष्म अवयवोंको आश्रय करती हैं, इसी कारण देहाकारमें परिणत उसकी मूर्त्तिको पण्डित लोग शरीर कहते हैं।" कुल्लूकभट्टने कहा है कि, **"षडाश्रयणाच्छरीरं"** "छैके आश्रय करनेसे इसका नाम शरीर है।" सुतराम् कहना पड़ता है कि 'षष्' शब्दके आगे मत्वर्थीय 'र' प्रत्यय लगाकर वर्ण-विकार-प्रक्रियाके अनुसार'शरीर' शब्दकी व्युत्पत्ति की गयी है। केवल इतना ही नहीं, प्रत्युत किसी वस्तुका सम्बन्ध है, इस हेतु उस वस्तुके नामसे वस्तु-विशेषका निर्द्देश भी पाया जाता है। जैसे दण्डके साथ योग है इसलिये दण्ड शब्द, एवं मञ्चपर अवस्थान करनेके हेतु मञ्च शब्द, पुरुषमें प्रयुक्त होता है। कभी कभी विक्रेय वस्तुके नामसे फेरीवालेको पुकारा जाता है; इस बातको तो सभी जानते हैं। देश-वाचक अङ्ग वङ्ग कलिङ्गादि शब्द तत्तद्देश-वासियोंमें अधिकतासे प्रयुक्त हुआ करते हैं।

हिन्दू शब्दकी व्युत्पत्ति

ऐतिहासिक लोगोंके मतमें हिन्दू नाम मूलसे ही अद्भुत है। सिन्धु नदके पूर्ववर्ती सब देश साधारणतः सिन्धु-स्थान अर्थात् सिन्धु-प्रदेशके नामसे विदेशियोंके समीप परिचित थे

और फारसी भाषामें 'हिन्दुस्तान'के नामसे आजतक विख्यात हैं। इस हिन्दुस्तानमें रहनेवालोंका असली नाम हिन्दुस्थानी हो सकता है। किन्तु संक्षेपतः हिन्दू नामसे हम लोग निर्दिष्ट हुए हैं। स्मरण रखना चाहिये कि जिस समय मुसलमान वा यवन लोगोंने भारतवासियोंको हिन्दू नामसे आख्यात किया था, उस समयतक इस देशमें मुसलमान वा यवनोंका रहना सहना नहीं हुआ था। हिन्दू नामका बीज-भूत सिन्धु नद फारसी भाषामें 'हिन्दू' और ग्रीक भाषामें 'इण्डुस्' कहा गया है। तदनुसार लैटिन भाषामें भारतवर्षका नाम 'इण्डिया' हुआ है।

फारसी भाषामें कृष्ण वर्ण भी हिन्दू शब्दका एक अर्थ है। इस भाषामें हिन्दूकुश पर्वतका नाम 'हिन्दू कोह' अर्थात् कृष्ण पर्वत है। फारसीवालोंके मतमें रमणियोंके कपोलका कृष्णवर्ण तिल अत्यन्त शोभाका बढ़ानेवाला है। फारसीके सुप्रसिद्ध कवि हाफिज़ने कहा है—

"अगर आं तुर्क शीराजी बदस्तारद दिलेमारा।
बखाले हिन्दुअश बख्शम समरकन्दोबुखारारा॥"

इसका तात्पर्य यह है कि—"शीराज-वासिनी वह सुन्दरी यदि हमारे अन्तःकरणको हस्तगत करे अर्थात् यदि मुझे प्यार करे तो, उसके काले तिलके बदले समरकन्द और बुखारा दोनों देदिये जायं।" इस शेर (पद्य) में कृष्ण वर्णके अर्थमें हिन्दू शब्दका प्रयोग हुआ है। सिन्धु-प्रदेश-वासियोंका प्रायः

कृष्ण वर्ण देखकर मुसलमानोंने उनका 'हिन्दू' नाम रखा है कि नहीं, चिन्ताशील पुरुषोंको यह भी विचारना चाहिये।

पहले समयमें मुसलमान वा यवनलोग 'आफ्रिका' से गुलामों (क्रीतदासों) को खरीद कर लाया करते थे। आफ्रिकाके लोग कृष्ण वर्ण थे, इसलिये वे हिन्दू कहलाते थे। काल पाकर सभी लोग हिन्दू कहलाने लगे। विजयी मुसलमानोंने घृणा-पूर्वक सिन्धु-प्रदेश-वासियोंको हिन्दू नामसे आख्यात किया था कि नहीं, यह भी एक विचारने योग्य विषय है, जान पड़ता है कि हिन्दू नाम हमारी निज सम्पत्ति नहीं है। पहले कहे हुए कारणोंमेंसे किसी एक कारण वा दोनों कारणोंसे यदि हिन्दू नामकी उत्पत्ति हुई है तो निःसन्देह सिन्धु-प्रदेश-वासियोंके लिये यह नाम ग्लानिकर है,कोई गौरवकी वस्तु नहीं है। फिर भी हमलोग हिन्दू नामका क्या कम गौरव करते हैं? सुतराम् इसको वेदान्त-मत-सिद्ध अविद्या वा अज्ञानके अनिर्वचनीय प्रभावके यत् सामान्य आभासके सिवा और क्या कहा जा सकता है? मेरुतन्त्रमें हिन्दू शब्दकी व्युत्पत्ति अन्य-प्रकार प्रदर्शित हुई है। जैसे—

"हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दूरित्युच्यते प्रिये।"

हीन अर्थात् निकृष्ट आचार व्यवहारको जो दूषित करता है, वह हिन्दूके नामसे अभिहित होता है। कोई कोई कहते हैं कि मेरु-तन्त्रमें लण्डन नगरका उल्लेख है, इसलिये वह अति आधुनिक ग्रन्थ है। किन्तु उनको विचारना चाहिये कि पुरा-

णादिमें अनेक प्रकारको भविष्य वाणियां हैं उनसे पुराणादिकी आधुनिकता सिद्ध करना विज्ञ पुरुषोंका कार्य्य नहीं है। मेरु-तन्त्रकी भविष्य वाणीके स्थानमें लण्डन नगरका उल्लेख है। सुतराम् इससे मेरु-तन्त्रका आधुनिकत्व सिद्ध नहीं हो सकता। यह भी एक भविष्य वाणी ही है, यह दिखानेके लिये मेरुतन्त्रसे ग्रन्थका कुछ अंश उद्धत करते हैं—

"पश्चिमाम्नाय-मन्त्रास्तु प्रोक्ताः पारस्य-भाषया।
अष्टोत्तर-शताशीतिर्येषां संसाधनात् कलौ॥
पञ्च खानाः सप्त मीरा नव साहा महाबलाः।
हिन्दु-धर्म्म-प्रलोप्तारो जायन्ते चक्रवर्तिनः॥
हीनञ्च दूषयत्येव हिन्दुरित्युच्यते प्रिये।
पूर्वाम्नाये नव शतं षडशीतिः प्रकीर्त्तिता॥
फिरिङ्ग-भाषया मन्त्रा येषां संसाधनात्ःकलौ।
अधिपा मण्डलानाञ्च संग्रामेष्वपराजिताः॥
इंरेजा नव षट् पञ्च लण्ड्रजाश्चापि भाविनः।

उक्त श्लोक सब सरल है, इसलिये इनकी व्याख्या अनावश्यक है। किन्तु मेरु-तन्त्रके प्रमाणमें सन्देहका अन्य कारण है। वह यह है कि—फारसी भाषा एवं फिरिङ्ग भाषा अंग्रेजीमें जिन सब मन्त्रोंकी बात कही गयी है, उस उस भाषाके पण्डित जन जानते हैं कि वस्तुगत्या उनका कहीं ठौर-ठिकाना नहीं

है ! दूसरी बात यह है कि—किसी प्रामाणिक ग्रन्थकारने मेरु-तन्त्रसे वचन उद्धृत नहीं किये। तीसरे—हिन्दू नाम पुराना होनेसे श्रुति,स्मृति, पुराणादि ग्रन्थोंमें आर्यनामकी तरह हिन्दू शब्दका भी व्यवहार वा उल्लेख होता। जो हो, नाम-करणकी जो सब प्रणालियां दिखायी गयी हैं,उनकी ओर ध्यान लगानेसे दर्शन-शास्त्रके नाम-करण-विषयमें कोई अनुपपत्ति नहीं रह सकती।

दर्शन शब्दका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ चाहे जो कुछ क्यों न हो, शास्त्र-विशेष उसका प्रसिद्ध अर्थ है, इस विषयमें विवाद नहीं होसकता। जिस शास्त्र-विशेषमें युक्ति द्वारा वक्तव्य विषय समर्थित हो, सब लोग उसीको 'दर्शन-शास्त्र' कहते हैं। एतावता यह सिद्धान्त हो सकता है, कि दर्शन शब्द व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ वा उसके सादृश्यको ले शास्त्र-विशेषमें प्रयुक्त हुआ है। अथवा शास्त्र-विशेषमें रूढ है।

कोई कोई दर्शन शब्दकी अन्य प्रकार भी व्याख्या करते हैं। चाक्षुष ज्ञान 'दृश' धातुका मुख्य अर्थ होनेपर भी ज्ञान भी उसका दूसरा अर्थ है, इस बातको पूर्व्वाचार्य्योंने स्पष्ट शब्दोंमें स्वीकार किया है। इस स्थल पर 'दृश्' धातुका ज्ञान अर्थ ग्रहण करनेसे जो ज्ञानका साधन है,वही दर्शन शब्द-के व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थकी तरह प्रतीत होता है। अन्तः करणादि ज्ञानके साधन होनेपर भी वे शास्त्र नहीं कहे जा सके। आपत्ति हो सकती है कि शास्त्रमात्रही ज्ञानके साधन हैं, अनादि वेदसे लेकर आजकलके काव्य पर्य्यन्त थोड़े बहुत

सभी शास्त्र, ज्ञानके साधन होनेसे शास्त्रमात्रही दर्शन-शास्त्रमें परिगणित हो सकते हैं। इसके उत्तरमें वे कहते हैं कि—ज्ञान-सामान्य और ज्ञान-विशेष इन दोनों अर्थोंमें ज्ञान शब्दका प्रचुर प्रयोग मिलता है। अमरसिंहने कहा है कि—

"मोक्षे धीर्ज्ञानमन्यत्र विज्ञानं शिल्प-शास्त्रयोः।"

"मोक्ष-विषयक बुद्धिका नाम ज्ञान है, शिल्प और शास्त्र-विषयक बुद्धिका नाम विज्ञान है।" प्रस्तुत विषयमें 'दृश्' धातुका ज्ञान-विशेष अर्थात् मोक्ष-विषयक ज्ञान-रूप अर्थ ग्रहण करनेसे उक्त आपत्तिका निराकरण हो सकता है। क्योंकि दर्शन-शास्त्र, मोक्ष-विषयक ज्ञानका साधन है,—और और शास्त्र, ज्ञान-सामान्यके साधन होनेपर भी मोक्ष-विषयक ज्ञानके साधन नहीं।

भिन्न भिन्न दर्शनोंके विशेष विशेष नाम और उनके कारण।

भिन्न भिन्न दर्शनोंके प्रतिपाद्य विशेष विशेष विषयोंका अवलम्ब कर प्रायः सब दर्शनोंका एक विशेष विशेष नाम हो गया है। दर्शनान्तरमें अनालोचित 'विशेष' नामके एक अतिरिक्त पदार्थके स्वीकार करनेसे कणादका दर्शन 'वैशेषिक दर्शन' के नामसे प्रसिद्ध हुआ है। 'न्याय पदार्थ' विशेष रीतिसे आलोचित और प्रयुक्त होनेके कारण गौतमका दर्शन 'न्याय दर्शन' कह-लाया। सांख्यलोगोंके दर्शनका नाम 'सांख्यदर्शन,' पतञ्जलिके

दर्शनका नाम 'पातञ्जल दर्शन' ये दोनों नाम, क्रमसे सम्प्रदाय और कर्त्ताके नामानुसार अङ्गीकार किये गये हैं। पातञ्जल दर्शनका दूसरा नाम 'योग दर्शन' है। क्योंकि उसमें योगकी विस्तृत व्याख्या हुई है। सांख्य और पातञ्जल-दर्शनका साधारण नाम सांख्य-प्रवचन है। कारण, तत्व-समास नामक आदि वा संक्षिप्त सांख्य-दर्शनकी पदार्थावली उक्त दोनों दर्शनोंमें उत्तमतासे व्याख्यात हुई हैं। महाभारतमें सांख्य शब्दकी व्याख्या इस प्रकार मिलती है—

"संख्यां प्रकुर्वते चैव प्रकृतिञ्च प्रचक्षते ।
तत्वानि च चतुर्विंशत् तेन सांख्याः प्रकीर्तिताः॥"

"जो लोग संख्या अर्थात् सम्यक् ज्ञानका उपदेश करते हैं, एवं प्रकृति और चतुर्विंशति तत्वोंको कहते हैं, वे सांख्य कहलाते हैं।" जैमिनिके दर्शनमें वेद-वाक्योंका उत्कृष्ट विचार है, इसलिये उसका नाम 'मीमांसा-दर्शन' भी है। शरीर शब्दके उत्तर कुत्सा अर्थमें 'कन्' प्रत्यय करनेसे शारीरक शब्द निष्पन्न हुआ है। शारीरक शब्दका अर्थ है, कुत्सित-शरीर-वासी, जीवात्मा। (१) कुत्सित-शरीर-वासी जीवात्मा, उत्कृष्ट रीतिसे विचारित हुआ है—इस कारण व्यासजीके दर्शनका नाम है 'शारीरक-मीमांसा'। सब वेदान्त-वाक्योंका इसमें विचार

(१) शरीर, स्वभावसे ही कुत्सित है, क्योंकि मूत्र-पुरीषोपहतमाताका उदर उसकी उत्पत्ति और अवस्थितिका स्थान है, शुक्र और शोणित उसके उपादान हैं, शरीर स्वयं मूत्र-पुरीष-मांस-शोणितादि-युक्त है।

किया गया है, इसलिये इसका एक और नाम हुआ 'वेदान्त दर्शन' । जैमिनि और व्यासका दर्शन दोनों मीमांसा शब्दसे अभिहित हुए हैं । मीमांसा शब्दका अर्थ पूजित विचार व वेद विचार है । दोनों दर्शनोंका पार्थक्य समझानेके लिये व्यासका दर्शन, उत्तर मीमांसा और ब्रह्म मीमांसा एवं जैमिनिका दर्शन, पूर्व्व मीमांसा, कर्म्म मीमांसा और अध्वर मीमांसाके नामसे व्यवहृत होता है । बौद्ध दर्शन, आर्हत दर्शन प्रभृति कई दर्शन सम्प्रदायके नामसे और पाणिनीय दर्शन प्रभृति कर्त्ताके नामसे आख्यात हुए हैं ।

कणाद प्रभृति दर्शनकारोंने अपने ग्रन्थोंमें वैशेषिक आदि विशेष नामोंका व्यवहार नहीं किया है । दर्शन शास्त्रोंके भाष्य-कारोंने इन सब नामोंका व्यवहार किया है । किन्तु आश्चर्य्यका विषय यह है, कि दर्शनकार किंवा भाष्यकार किसीने भी दर्शन नामका व्यवहार नहीं किया है । भगवान् शङ्कराचार्यने शारीरिक भाष्यमें और उदयनाचार्यने अपने 'न्यायकुसुमाञ्जलि,: प्रकरणमें दर्शन शब्दका व्यवहार किया है । अवश्य ही उनसे बहुत वर्ष पहले दर्शन शब्द व्यवहृत होता था । क्यों कि इस प्रकारकी प्रसिद्धि न होती तो वे इसका व्यवहार न करते ।

तात्पर्य यह है, कि दर्शन नाम अध्येतृ सम्प्रदाय द्वारा प्रसिद्ध हुआ है अर्थात् पढ़ने पढ़ानेवालोंमें दर्शन नामका व्यवहार होता रहा है । भाष्यकार प्रभृतिने इन सब नामोंका व्यवहार किया है । तदनुसार ही वह प्रसिद्ध हुआ है । केवल दर्शन विषयमें यह बात नहीं है । कल्पसूत्र और गृह्यसूत्र सब वेद और शाखा-

ओंके भेदसे भिन्न भिन्न हैं। किस वेदका और किस शाखाका कौन सूत्र है, यह सूत्रग्रन्थमें नहीं कहा गया है! इतना ही नहीं, कौन मन्त्र वा संहिता एवं कौन ब्राह्मण किस शाखाका है, यह भी संहिता वा ब्राह्मणमें निर्दिष्ट नहीं हुआ है! यह भी अध्येतृ सम्प्रदाय प्रसिद्ध है। अब सभी समझ सकते हैं, कि अध्ययन और अध्यापनाका लोप केवल विद्यालोपही का कारण नहीं, पठन पाठनके बिना ग्रन्थका परिचय पर्य्यन्त नष्ट हो सकता है। अतएव अपने पूर्व पुरुषोंके प्रति भक्ति प्रदर्शन एवं अपनी होनहार सन्तानकी मङ्गलकामनाके लिये कृतविद्य मण्डलीको दर्शन शास्त्रादिके अनुशीलन विषयमें बद्धपरिकर होना चाहिये। भगवान् हमारे शास्त्ररसिक पुरुषोंका उत्साह बढ़ावें।

——:——

जो लोग दर्शन-शास्त्रके विचारमें प्रवृत्त होंगे, स्वभावसे ही उनके चित्तमें इस बातकी जिज्ञासा होगी, कि किस प्रयोजनकी सिद्धिके लिये दर्शनशास्त्रका आविर्भाव है, उसकी उपकारिता और आवश्यकता ही क्या है और क्यों दर्शन शास्त्रका इतना समादर हो रहा है? क्यों कि प्राणिमात्र किसी न किसी प्रयोजनको लक्ष्य बनाकर ही कार्य करनेमें प्रवृत्त होते हैं। निष्प्रयोजन प्रवृत्तिको आकाश-कुसुमके समान मिथ्या कह देनेमें भी कोई बुराई नहीं है, इसलिये पहले प्रयोजन-विषयकी आलोचना की जाती है। दर्शनशास्त्र जिस प्रकार ऊंचे स्थानपर अधिकार कर रहा है, उसका उद्देश्य भी अवश्य ही वैसा ही ऊंचा होगा।

पहले कह चुके हैं, कि सभी भारतीय दर्शन आध्यात्मिक दर्शन हैं और हमारे महर्षि ही अधिकांश दर्शनोंके प्रणेता हैं। वे स्वभावसे ही अध्यात्म-जगत्में विचरनेवाले हुए हैं। उनके बनाये हुए दर्शन अध्यात्म-विद्या-विशेष हैं, एवं आध्यात्मिक विषयमें किसी विशेष प्रयोजनके लिये प्रवृत्त होते हैं, यह बात सहज ही में समझी जा सकती है।

दर्शन शास्त्रका प्रयोजन, उपकारिता और आवश्यकता।

वस्तुगत्या, आध्यात्मिक प्रयोजनका सम्पादन ही दर्शन-शास्त्रका मुख्य उद्देश्य वा प्रयोजन है।

यह सर्व-वादि-सिद्ध है, कि धर्म्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चार प्रकारके पुरुषार्थोंमें अर्थात् पुरुषके प्रयोजनोंमें मोक्ष वा मुक्ति हो परम पुरुषार्थ है। महर्षि कणाद और गौतम प्रभृति अधिकांश दर्शन-शास्त्रकार स्पष्टभाषामें निःश्रेयस वा मुक्तिको ही अपने शास्त्रोंका प्रयोजन बता गये हैं। तत्वज्ञान ही मुक्तिका कारण है—यह उन्होंने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया हैं। तात्पर्य यह है, कि तत्वज्ञान मुक्तिका उपाय है—इस विषयमें तत्ववेत्ताओंका मत-भेद नहीं है। क्यों कि संसार वा बन्धन मिथ्या-ज्ञान-जन्य है, सुतराम् तत्वज्ञान, मिथ्या ज्ञानको दूरकर मुक्तिको लाभ करेगा—यह बात भी सहजमें समझी जा सकती है।

वस्तुगत्या आत्मा, देहादिसे भिन्न है, तथापि दोषवश सांसारिक पुरुष, देह वा इन्द्रियादिक हीको आत्मा मान रहे हैं। इसीका नाम मिथ्याज्ञान है, यही अनर्थका मूल है। इस मिथ्या ज्ञानके दूर हुए बिना मुक्ति नहीं हो सकती और इस मिथ्या-

ज्ञानका दूर होना केवल आत्म-तत्व-ज्ञानके अधीन है। इसलिये आत्म-तत्व-साक्षात्कारके उद्देश्यसे आत्माका श्रवण, मनन और निदिध्यासन वेदोंमें कहा गया है। स्मृतिकारने वेद-विहित श्रवण-मननादिके उपायोंका निर्देश किया है —

"श्रोतव्यः श्रुति-वाक्येभ्यो मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।
मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शन-हेतवः ॥"

श्रुति-वाक्यों द्वारा श्रवण और उपपत्तियोंसे मननकर निरन्तर ध्यान करें। ये तीन आत्म-दर्शन वा आत्म-साक्षात्कारके हेतु हैं। उपपत्ति कहते हैं युक्ति वा अनुमानको।

यहां आशङ्का हो सकती है कि जो वेद-वाक्योंसे सुना जायगा, वह अवश्य यथार्थ है। सुतराम् उस विषयमें मननादि अनावश्यक हैं। किन्तु लोगोंका स्वभाव यही है, कि आप्तोपदेश अर्थात् अभ्रान्त पुरुषके विश्वास्य वाक्यसे जो श्रवण किया है उसे युक्ति वा अनुमान द्वारा समझनेकी इच्छा होती है और जो युक्तिसङ्गत समझा जाता है, उसको प्रत्यक्ष देखनेकी इच्छा होती है। प्रत्यक्ष देख लेनेपर उस विषयमें और किसी प्रकारकी जिज्ञासा नहीं होती। सुतराम् प्रमिति वा यथार्थ ज्ञान प्रत्यक्षावसान होता है अर्थात् प्रत्यक्ष दर्शन होनेपर जिज्ञासा अर्थात् जाननेकी इच्छा निवृत्त हो जाती है, यह स्वाभाविक वा अनुभव-सिद्ध बात है।

न्याय-भाष्यकारने भी इस प्रकारका सिद्धान्त किया है, कि तत्वज्ञान मात्र ही मुक्तिका कारण नहीं है। साक्षात्कार अर्थात्

प्रत्यक्षात्मक तत्वज्ञान ही मुक्तिका कारण है। प्रत्यक्षात्मक तत्व-ज्ञान वा आत्मदर्शन केवल श्रवण-साध्य नहीं है, इसमें मनन और निदिध्यासनकी भी आवश्यकता है। श्रवण, श्रवणेन्द्रिय मात्र-साध्य है; मनन, अन्तःकरण साध्य है। एक इन्द्रियसे उत्पन्न होनेवाले ज्ञानकी अपेक्षा एकाधिक इन्द्रियोंसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह अधिक विश्वसनीय है। देहादिमें आत्म-भ्रम जिस प्रकार प्रत्यक्ष है, देहातिरिक्त आत्म-ज्ञान भी उसी प्रकार प्रत्यक्षात्मक होना आवश्यक है। परोक्ष तत्व-ज्ञान, प्रत्यक्षात्मक मिथ्या ज्ञानके समुच्छेद-साधनमें समर्थ नहीं होता। तत्व-ज्ञान जब प्रत्यक्षात्मक होता है, तब प्रत्यक्षात्मक मिथ्या-ज्ञानका उन्मूलन कर सकता है। इसीलिये श्रुति और स्मृतिमें श्रवण, मनन और निदिध्यासन, आत्मदर्शनके हेतु कहे गये हैं।

दर्शन-शास्त्र, मननका उपाय सुझाता है, इस कारण दर्शन-शास्त्रके और दो नाम हो सकते हैं,—मनन-शास्त्र और विचार-शास्त्र। दर्शन-शास्त्रका ऐसा ऊंचा लक्ष्य वा प्रयोजन होनेसे ही दर्शन-शास्त्रका इतना आदर और गौरव है। एक गंवार किसानसे लेकर शास्त्र-व्यवसायी विद्वान् पर्य्यन्त सभी लोग "अहं स्थूलः अहं कृशः" अर्थात् मैं स्थूल हूं, मैं दुबला हूं—कहते हुए संघातको ही अर्थात् देहादिको ही आत्मा मान रहे हैं। दर्शन-शास्त्र समझा देता है कि आत्मा, देह नहीं है—आत्मा, देहसे भिन्न पदार्थ है।

जिस दर्शन-शास्त्रने सर्वसाधारणके प्रत्यक्ष अनुभवको असत्य सिद्धकर आशातीत कृतकार्य्यता लाभ की है, मोहान्ध मनुष्यों-

के ज्ञान-चक्षु खोल दिये हैं, इस लोकको अकिञ्चित्कर दिखा अप्रतर्क्य और अचिन्तनीय परलोक-पथमें मनुष्योंको परिचालित किया है, घोर अन्धकारमें दिव्य प्रकाश किया है, संक्षेपसे यह कि जगत्में जिसने युगान्तर उपस्थित किया है, उस दर्शन-शास्त्रका गौरव और महिमा विशेष ध्यानपूर्वक समझने योग्य है। शास्त्र द्वारा समझाने योग्य नहीं है ।

"आत्मा, देह, नहीं—देहसे भिन्न है"—यह शास्त्रने उपदेश दिया है सही; किन्तु पहले ही कह चुके हैं, कि लोगोंका स्वभाव ही ऐसा है, कि वे उपदेश मात्रसे तृप्ति नहीं कर सकते। उपदिष्ट विषयको युक्तिपूर्वक समझनेके लिये व्यग्र होते हैं । दर्शन-शास्त्र उन युक्तियोंको दिखा देता है वा शास्त्रके उपदेशको उपपत्तिपूर्वक (युक्तिके साथ) समझा देता है । ऐसे लोगोंका भी बिलकुल अभाव नहीं है, जिनकी शास्त्रमें वैसी श्रद्धा नहीं है, अथवा पूरी अश्रद्धा है, तथापि दर्शन-शास्त्र उनके लिये भी आत्माकी देहाति-रिक्तता प्रतिपन्न करनेमें समर्थ है । कुतार्किकोंके कुतर्क-जालको छिन्न-भिन्नकर समीचीन तर्ककी सहायतासे शास्त्रके प्रामाण्यको सिद्ध करना, विपथगामीको सत्पथमें ले आना और लक्ष्य-भ्रष्टको लक्ष्यके सामने करना, दर्शन-शास्त्रके सिवा अन्य शास्त्रोंकी शक्ति-से बाहर है ।

परम कारुणिक शास्त्रने पिता माताकी तरह लोगोंको हित-कर उपदेश दिया है । किन्तु खोटी बुद्धिवाला अभिमानी पुत्र पिता माताके उपदेशको ग्रहण नहीं करता । वह जब तक पीटा नहीं जाता है, तब तक किसी तरह भी पिता माताके उपदेशके

अनुसार चलना नहीं चाहता। पीटे जानेपर पीटनेके डरसे उपदेशके वश-वर्त्ती होनेको वाध्य होता है। हम लोग भी इसी तरह शास्त्रके उपदेशमें अश्रद्धा वा अनादर दिखानेपर दर्शन-शास्त्रके अकाट्य तर्क-रूप कशाघातसे नियमित हो शास्त्रके उपदेशके प्रति श्रद्धा और भक्ति दिखानेको वाध्य होते हैं। सामन्त राजा जिस प्रकार सम्राट्के द्वारा रक्षित होते हैं और और शास्त्र उसी प्रकार दर्शन-शास्त्रकी सहायतासे रक्षित और परिपुष्ट हैं। निचोड़ यह है कि दर्शन-शास्त्र, शास्त्र-जगत्में सम्राट् है। वह लोगोंके लिये गुरुके समान मङ्गलाकाङ्क्षी, बन्धुको भांति हितोपदेष्टा और प्रियतमकी तरह प्रीति-प्रद है।

इस अच्छे शास्त्रके सबसे अच्छे उद्देश्यने सोनेमें सुगन्धिका काम किया है। बुद्धिकी निर्मलता और सूक्ष्म-ग्राहिता एवं तर्क-शक्तिका समुन्मेष आदि दर्शन-शास्त्रके अवान्तर प्रयोजन हैं। अवान्तर प्रयोजन भी दर्शन-शास्त्रके मुख्य प्रयोजनकी तुलनामें बहुत सामान्य और क्षुद्र प्रतीयमान होनेपर भी शास्त्रान्तरके लिये उन्हें असामान्य और पर्वतके समान कहना चाहिये, इसमें सन्देह नहीं; क्योंकि और और शास्त्र वहांतक पहुंचनेमें ही समर्थ नहीं हुए। यहां यह कहनेकी आवश्यकता नहीं, कि 'शास्त्र'से हमारा तात्पर्य पौरुषेय अर्थात् पुरुष-निर्मित शास्त्रसे है। अपौरुषेय वा ईश्वरीय वेद शास्त्रकी बात स्वतन्त्र है। विचार-शील विद्वान् इस बातको अस्वीकार नहीं कर सकते, कि समस्त शास्त्र वेदसे उत्पन्न हुए हैं।

नास्तिक-शिरोमणि चार्वाक, वेदके यथार्थ अर्थको नहीं

समझ सका। उसने भ्रान्त हो अपने मनमें समझा, कि उसके दर्शनकी जड़ भी वेद ही है। इसीलिये उसने स्वयं वेदको न मानकर भी आस्तिक-पुरुषोंकी आखोंमें धूल डालनेके लिये अपने दर्शनमें भी वेद-वाक्योंका प्रमाण-रूपसे उल्लेख किया है। देखा जाता है, कि जो लोग शास्त्रको नहीं मानते हैं, वे भी शास्त्रके विश्वासियोंको ठगनेके लिये शास्त्रकी दुहाई दिया करते हैं।

यह सच है, कि जैमिनिकी कर्म्म-मीमांसा, कर्म्मकाण्डीय वेदवाक्योंकी मीमांसामें पूरी हो जाती है। मीमांसा-दर्शनका प्रयोजन मुक्ति नहीं है—उसका प्रयोजन कर्म्मका अवबोध मात्र है; किन्तु मुक्ति साक्षात् सम्बन्धसे तत्व-ज्ञान-साध्य होनेपर भी परोक्ष भावसे कर्म्म भी मुक्तिको सम्पादन करता है, क्योंकि कर्म्म द्वारा सत्व-शुद्धिके हुए बिना इस तत्वज्ञानका आविर्भाव नहीं होता। अतएव मुक्ति, मीमांसा-दर्शनका साक्षात् प्रयोजन न होनेपर भी परम्परा प्रयोजन है, इसमें कुछ सन्देह नहीं। कारण कि शुद्धिका एकमात्र कारण कर्म्म है और वही मीमांसा दर्शनका आलोच्य विषय है। और एक बात है; अनेक वेदान्ती आचार्य्य स्पष्टाक्षरोंमें न सही; पर प्रकारान्तरसे जैमिनिपर कटाक्ष कर गये हैं, कि जैमिनिके मतमें मुक्ति, आत्म-स्वरूप नहीं—किन्तु स्वर्गादिकी तरह लोकान्तर वा स्वर्ग-विशेष है।

"यामिमां पुष्पितां वाचं"—इस युक्ति द्वारा भगवान् श्रीकृष्णने भी मीमांसकोंपर कटाक्ष किया है कि नहीं, यह भी विवेच्य है। जो हो, वेदमें है कि सोमयाग करनेसे अमृतत्वका लाभ होता है। मुक्ति और अमृतत्व (अमरभाव) एक

ही वस्तु है मुक्ति और अमृतत्व एक ही पदार्थ है—यह समस्त दार्शनिकोंका अविरोधी सिद्धान्त है। इस विषयमें एकका भी मत विरुद्ध नहीं है। अतएव कहा जा सकता है, कि जैमिनिके दर्शनका भी प्रयोजन मुक्ति है। किन्तु एक बात और है, कि जैमिनि जिसको मुक्ति कहते हैं, दूसरे दार्शनिक उसको मुक्ति नहीं कहते। जैमिनिकी मानी हुई मुक्ति और अन्यान्य दर्शनों-की मानी हुई मुक्ति, एक प्रकारकी नहीं, इतना ही भेद है—सो इसमें कुछ आनो जानो नहीं। बहुतसी बातोंमें दार्शनिकोंका परस्पर मत-भेद देखा जाता है। स्मरण रखना चाहिये, कि सब दर्शनोंका प्रस्थान-भेद ही इस प्रकारके मतभेदका कारण है।

श्रीरामानुज स्वामीके मतमें जैमिनिकी पूर्वमीमांसा और व्यासको उत्तर मीमांसा,—ये दोनों भिन्न भिन्न दर्शन नहीं हैं, दोनों मिलकर ही एक दर्शन होता है। एक ही दर्शनके भिन्न भिन्न अंशका उन्होंने निर्म्माण किया है, अर्थात् दर्शनका कर्म्म-काण्ड-अंश जैमिनिने और ज्ञानकाण्ड अंश वेद व्यासजीने निर्म्माण किया है। जैसे—अष्टाध्यायीकी एक ही काशिका वृत्तिके भिन्न भिन्न अंश वायन और जयादित्यके द्वारा रचित होने पर भी ये अंश भिन्न भिन्न वस्तु नहीं हैं, एक ही काशिकावृत्ति है वैसे ही भिन्न भिन्न अंश जैमिनि एवं व्यासके बनाये हुए होनेपर भी वे भिन्न भिन्न दर्शन नहीं हैं। दोनों मिलकर एक ही मीमांसा-दर्शन कहे जाते हैं। इस मतमें मीमांसा दर्शनका उद्देश्य मुक्ति है —इस विषयमें कुछ भी सन्देह नहीं रह सकता। लोक-प्रसिद्धिके

अनुसार इस प्रस्तावमें अनेक स्थलोंपर मीमांसा- दर्शन और वेदान्त-दर्शन भिन्न भिन्न दर्शनकी तरह व्यवहृत होंगे।

सक्षेपसे दर्शन-शास्त्रका प्रयोजन दिखाया गया। उसीसे दर्शन-शास्त्रकी उपकारिता और आवश्यकता हृदयङ्गम हो सकती है। आवश्यकताके विषयमें यह कह देना ही यथेष्ट होगा, कि दर्शन-शास्त्रकी सहायताके विना क्या शास्त्रीय और क्या लौकिक किसी भी विषयमें एक पद भी अग्रसर होनेका उपाय नहीं है। यह तो सभो शास्त्र-व्यवसायी जानते हैं कि शास्त्रार्थ-विषयमें किसी प्रकारका सन्देह उठनेपर दर्शन शास्त्रकी सहायताके विना उसकी मीमांसा नहीं हो सकतो। लौकिक विषयमें भी—यह करना चाहिये, यह न करना चाहिये, यह अच्छा है यह बुरा है—इस प्रकारके निर्णयमें अनुकूल वा प्रतिकूल युक्तिकी आवश्यकता होती है। युक्तिकी खान दर्शनशास्त्र ही है, अन्यान्य शास्त्रोंमें जो युक्तियोंको अवतारणा देखी जाती है,उसकी जड़ भी दर्शनशास्त्र-में है—इस विषयमें एक सामान्य उदाहरण भी दिया जाता है।

ग्रीष्मऋतुके समय शरीरमें उष्णताकी मात्रा अत्यन्त अधिक होनेपर उसके प्रशमनके लिये बहुतसे लोग स्नान किया करते हैं। यह पहले समर्थित हो चुका है, कि "इष्ट-साधनताका ज्ञान ही प्रवृत्तिका कारण है।" स्नान हमारा इष्टसाधन है, अर्थात् स्नान करनेसे हमारी गर्मी दूर होगी, स्नान-कार्य में प्रवृत्त होनेसे प्रथम अवश्य ही लोगोंको इस प्रकारका ज्ञान हुआ करता है। यदि ऐसा न हो तो स्नानमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती। अब बात यह है, कि स्नान करनेके पीछे उष्णताका प्रशमन (गर्मीका

दूर होना) उसी क्षण अनुभव किया जाता है सही, किन्तु स्नान करनेसे उष्णता दूर होगी, स्नान करनेसे प्रथम—इस प्रकारके भविष्यत् विषयके जाननेका क्या उपाय था? इसके उत्तरमें यदि कहा जाय, कि अनेक वार देखा गया है, कि स्नान करनेसे पहले जैसी उष्णताका अनुभव होता है, स्नान करनेपर वह बहुत कुछ प्रशमित हो जाती है। अतएव समझा जाता है, कि स्नान भी उष्णताके प्रशमनका एक उपाय है। कर्तव्य स्नान भी स्नान है, सुतराम् उसके द्वारा भी उष्णता दूर होगी, इस प्रकार—स्नान करनेपर उष्णता-दूर होगी—इस भविष्यत् विषयका ज्ञान लोगोंको अनायास हो सकता है। किन्तु ऐसा होनेपर अवश्य कहा जा सकता है, कि ऐसे स्थलपर लोग अज्ञात दशामें दर्शन-शास्त्रकी सहायता ग्रहण कर रहे हैं। कारण कि स्नानके पहले भविष्यत् उष्णता-प्रशमनका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि जो विषय विद्यमान हो, प्रत्यक्ष उसीका हुआ करता है। अनागत (भविष्यत्) और अतीत विषयका प्रत्यक्ष नहीं होता।

स्नान करनेसे पहले उस स्नानसे उत्पन्न होनेवाला उष्णता-प्रशमन, प्रत्यक्ष विद्यमान नहीं है—अनागत वा भविष्यत् है। कारण कि इस उष्णताकी शान्ति तब तक भी हुई नहीं है। स्नान करनेपर उष्णताकी शान्ति होगी। सुतराम् अनागत उष्णता—मनका ज्ञान, अर्थात् स्नान करनेपर उष्णता शान्त होगी—यह ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है, अनुमान है। स्नान उष्णता-प्रशमनका अर्थात् गर्मी दूर होनेका कारण है, उष्णता-प्रशमन अर्थात् गर्मीका दूर होना स्नानका कार्य है। इस जगह कारणके

द्वारा कार्यका अनुमान होता है। कारण-कार्य भावका निश्चय अर्थात् कौन किसका कारण है, एवं कौन किसका कार्य है—इस विषयका यथार्थ ज्ञान दर्शन-शास्त्र-सापेक्ष है।

इसपर आपत्ति हो सकती है, कि जिन्होंने दर्शन-शास्त्र कभी देखा नहीं, और तो क्या—दर्शन-शास्त्रका नाम तक सुना नहीं, वे लोग भी कार्य-कारण-भावका निश्चय एवं स्नान द्वारा उष्णता-निवारणकी चेष्टा किया करते हैं। सुतराम् इसमें दर्शन-शास्त्र-के द्वारा कुछ भी सहायता नहीं मिली है। इसका उत्तर पहले ही दिया जा चुका है, अर्थात् वे लोग अज्ञात दशामें दर्शनशास्त्र की सहायताको ग्रहण करते हैं। उन लोगोंने दर्शन-शास्त्र पढ़ा नहीं यह सही है, किन्तु परम्परागत घटना वा उपदेशकी सहा-यतासे प्रकारान्तरसे दर्शनशास्त्रके सिद्धान्त जान चुके हैं, इसी लिये वे लोग कार्य-कारण-भावका निश्चय करनेमें समर्थ होते हैं, एवं स्नान द्वारा उष्णता निवारणकी चेष्टा करते हैं। तात्पर्य यह है, कि कार्य्य कारणभावके निश्चय और अनुमानकी सहायता विना प्रवृत्ति और निवृत्तिका होना भी एकवार ही असम्भव हो जाता है। इस विषयमें अधिक उदाहरण दिखानेकी आवश्य-कता नहीं, जरा मन लगाने हीसे यह बात भली भांति समझमें आ सकती है।

यह सम्भव नहीं है, कि प्राणियोंकी बुद्धिके विकास वा कल्पनाके सहारेसे कोई दर्शन-शास्त्र रचा गया है ; किन्तु ऐसा होनेपर भी दर्शन-शास्त्रने इन सब कल्पनाओंका परिपोषण, परि-वर्द्धन, परिवर्ज्जन, और परिमार्ज्जन किया है, इसमें कुछ भी

सन्देह नहीं । सुतराम् कहा जा सकता है, कि निरवद्य अर्थात् निर्दोष कल्पनामें लोगोंका अभ्यास करा देना ही दर्शन-शास्त्रका उद्देश्य है। इसलिये जो लोग समीचीन कल्पनाका आश्रय ग्रहण करनेमें समर्थ हैं, वे लोग ज्ञातरूपसे वा अज्ञातरूपसे दर्शन-शास्त्रकी सहायता लाभ कर सके हैं, यह कहा जा सकता है। क्योंकि लोगोंकी समीचीन (ठीक) कल्पना एवं दर्शन-शास्त्रका प्रयोजन वस्तुगत्या भिन्न नहीं होते हैं। दर्शन-शास्त्र अपने उपजीव्य अर्थात् अवलम्बन-स्वरूप (जिसके सहारे यह खड़ा हुआ है) कल्पनाके दोष दिखानेमें भी कुण्ठित नहीं है, इस कारण, साधारण बोलचालमें दर्शनशास्त्रका एक नाम 'गुरुमार विद्या' भी हो गया है। युक्ति-प्रधान दर्शन ही अधिकतासे इस नामके भागी हैं। जो हो, अब हम दर्शनाशास्त्रके—जो हमारी लोकयात्राके निर्वाहका मूल बन रहा है,—अवान्तर भेद वा प्रकार-भेद दिखलाते हैं।

दर्शनशास्त्रके विभाग।

दर्शन-शास्त्रको प्रधानतः दो भागोंमें विभक्त कर सकते हैं, एक नास्तिक दर्शन और दूसरा आस्तिक दर्शन। चार्वाक दर्शन प्रभृति नास्तिक-दर्शन कहलाते हैं और न्याय-दर्शन प्रभृति आस्तिक-दर्शन। इस स्थानमें नास्तिक और आस्तिकका संक्षिप्त परिचय देना भी असंगत न होगा। कुछ लोग समझते होंगे, कि जो लोग ईश्वरको नहीं मानते हैं, वे ही नास्तिक हैं सो ठीक नहीं है। कारण, ऐसा होनेपर मीमांसकाचार्य और सांख्या-चार्य्य—ये दोनो ही नास्तिक कहे जा सकते हैं। क्योंकि वे

ईश्वरको नहीं मानते । विशेषता यह है कि "ईश्वर नहीं है"—यह बात प्रचलित सांख्यदर्शनमें युक्ति द्वारा प्रतिपन्न की गयी है। जो लोग ईश्वरको नहीं मानते हैं, गीतामें भगवान् उनको आसुरी-सम्पद्-युक्त वा असुर कहकर उल्लेख करते हैं, नास्तिक नहीं कहते । मीमांसकाचार्य्य और सांख्याचार्य्य ईश्वर नहीं मानते हैं सही; किन्तु दोनो ही वेदके प्रामाण्यको स्वीकार करते हैं। इसलिये वे आस्तिकोंमेंमें भी श्रेष्ठ कहलाते हैं।

पौराणिकोंने मीमांसा और सांख्य दोनो दर्शनोंकी ही यथेष्ट प्रशंसा की है, उन्होंने कहा है कि जैमिनि वेदका पारदर्शी है, उसके दर्शनका कोई भी अंश वेद-विरुद्ध नही है, सांख्यके ज्ञान-तुल्य और ज्ञान नहीं है।

सांख्य-ज्ञान. अत्युत्कृष्ट ज्ञान है, इस विषयमें सन्देह करना अनुचित है। इसके अनुसार विचार करनेसे प्रतीत होता है, कि जो लोग वेदको मानते हैं, वे आस्तिक हैं और जो वेदको नहीं मानते, वे नास्तिक। आस्तिक और नास्तिकका ऐसा लक्षण होनेपर बौद्ध-दर्शन प्रभृति भो नास्तिक-दर्शनोंमें ही गिने जा सकते हैं। कारण, चार्वाक-दर्शनके समान बौद्धादि दर्शनोंमें भी वेदका प्रामाण्य अङ्गीकृत नहीं हुआ है।

आस्तिक और नास्तिक।

जिस अर्थका अवलम्बनकर आस्तिक और नास्तिक पद व्युत्पादित वा निष्पन्न किये गये हैं, उस अर्थका अनुसरण करनेसे आस्तिक एवं नास्तिकका लक्षण अनायास ही समझमें आ सकता है। जो परलोकको मानता है, वह आस्तिक है; जो पर-

लोकको नहीं मानता है, वह नास्तिक है। यह आस्तिक-नास्तिकका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है। चार्वाक परलोकको नहीं मानता, इसलिये चार्वाकका दर्शन नास्तिक-दर्शन है। बौद्ध-लोग परलोकको मानते हैं कि नहीं, सो निश्चय नहीं कह सकते। कालक्रमसे बौद्ध-दर्शन विलुप्तप्राय हो रहा है। सुतराम् उनका प्रकृत मत विस्तृत रूपसे जाननेका कुछ उपाय नहीं है। जहां तक जाना गया है, उससे बोध होता है कि प्रकारगत वैलक्षण्य होनेपर भी उनके मतमें परलोक हो सकता है। किसी किसी नैयायिकने तथापि बौद्ध लोगोंको नास्तिक कहकर उल्लेख किया है। आर्हत (जैन) लोग परलोक मानते हैं, सुतराम् उक्त व्युत्पत्तिके अनुसार आर्हत दर्शन, आस्तिक श्रेणीमें गिने जाने योग्य है। वैशेषिकादि दर्शन आस्तिक दर्शन हैं—यह कहना विस्तार मात्र है।

जब बौद्धादि दर्शन आस्तिक दर्शनोंमें गिने जायं तो आस्तिक दर्शन अवैदिक और वैदिक इन दो श्रेणियोंमें विभक्त हो सकते हैं। बौद्ध-दर्शन और आर्हत दर्शनमें वेदका प्रामाण्य अङ्गीकृत नहीं हुआ है, सुतराम् वे अवैदिक हैं। अन्यान्य सब आस्तिक दर्शनोंमें वेदका प्रामाण्य स्वीकार किया गया है, इस लिये वे वैदिक हैं। वैदिक-दर्शन भी दो श्रेणियोंमें विभक्त हैं। युक्ति-प्रधान और श्रुति-प्रधान। मीमांसा और वेदान्त ये दोनों दर्शन श्रुति-प्रधान हैं। इन दोनोंमें श्रुति ही प्रधान प्रमाण है अर्थात् श्रुति ही उक्त दोनों दर्शनोंकी मूल भित्ति हैं। इनमें श्रुत्यर्थ उपपादन करनेके लिये ही सब युक्तियोंका प्रयोग किया गया है। केवल

युक्तिबलसे न तो कोई विषय स्वीकार किया गया और न कोई प्रत्याख्यात हुआ है। इनके अतिरिक्त वैशेषिकादि अन्यान्य दर्शन युक्तिप्रधान हैं। उनमें युक्तिबलसे ही स्वमत संस्थापन और परमतका प्रत्याख्यान किया है। युक्ति ही उनकी मूल भित्ति है। इसलिये वेदान्त और मीमांसा दर्शनके विना और सब दर्शनोंका नाम तर्कशास्त्र है। ये सब दार्शनिक स्वमत-विसंवादिनी (विरोधिनी) सब श्रुतिओंका अर्थान्तर करनेमें भी कुण्ठित नहीं हुए। निचोड़ यह है, कि इनके विषयमें यह कहना नितान्त ही अनुचित नहीं है कि वे लोग श्रुतिकी कुछ बड़ी पर्वाह नहीं करते हैं। वे तर्कबलसे जिस सिद्धान्तके पास पहुंचते हैं, श्रुतिमें यदि उसके विरुद्ध बात दिखलाई दे तो, गौणी वा लक्षणावृत्तिकी सहायतासे एवं अन्य उपायोंसे 'येन तेन' प्रकारेण, श्रुतिका अर्थान्तर कर उसको स्वसिद्धान्तके अनुकूल कर लेते हैं। इसलिये वेदान्तियोंने श्रुतिविप्लावक सब तर्कोंको शुष्क तर्क वा कुतर्क कहकर तार्किकोंके प्रति कटाक्ष किया है। केवल तर्क बलसे अतीन्द्रिय विषय सब स्थिरीकृत नहीं हो सकते हैं, यह भी सब उत्तम रूपसे समझा दिया है। अब दर्शन-शास्त्रका अन्य प्रकारका विभाग दिखाया जाता है।

षड् दर्शन और उनके अवान्तर विभाग।

न्याय, वैशेषिक, साङ्ख्य, पातञ्जल, मीमांसा और वेदान्त ये छै दर्शन 'षड् दर्शन' के नामसे प्रसिद्ध हैं। यह षड् दर्शन प्रधानतः तीन श्रेणियोंमें विभक्त हो सकते हैं। अवान्तर मत-वैलक्षण्य रहनेपर भी न्याय और वैशेषिक-दर्शन एक श्रेणीके

अन्तर्गत होने योग्य हैं । इन दोनों दर्शनोंमें केवल निरवच्छिन्न तर्कबलसे वक्तव्य विषय समर्थित हुआ है । नैयायिक और वैशेषिक आचार्योंने न्याय और वैशेषिक दर्शनको समान तन्त्र कहकर स्वीकार किया है । किसी अंशमें कुछ मतभेद रहनेपर भी न्याय दर्शनके सब पदार्थ वैशेषिकोंके एवं वैशेषिक-दर्शनके सब पदार्थ नैयायिक लोगोंको अनुमत और अङ्गीकृत हैं—यह न्याय-भाष्यकारने मुक्तकण्ठसे स्वीकार किया है ।

कपिलका दर्शन एवं पतञ्जलिका दर्शन एक श्रेणीमें स्थान पा सकते हैं । दोनों दर्शनोंका ही साधारण नाम साङ्ख्य-प्रवचन है । कारण, दोनों दर्शनोंमें संक्षिप्त साङ्ख्य-दर्शनोक्त सब विषयोंकी व्याख्या हुई है । सुतराम् दोनों दर्शन अनायास ही एक श्रेणीस्थ हो सकते हैं । कपिलके दर्शनमें ईश्वरका होना अङ्गीकार नहीं किया गया है, प्रत्युत युक्ति द्वारा खण्डित हुआ है । पतञ्जलिके दर्शनमें प्रमाण-प्रदर्शनपूर्वक ईश्वरको अङ्गीकार किया गया है । इसलिये दार्शनिक आचार्य्य लोग दोनों दर्शनोंको यथाक्रमः निरीश्वर साङ्ख्य दर्शन और सेश्वर साङ्ख्य दर्शनके नामसे पुकारते हैं ।

जैमिनि और व्यासके दर्शनमें सब वेदवाक्योंका ही विचार हुआ है । ये दोनों दर्शन एक श्रेणीस्थ वा एक हैं—यह हम पहले ही प्रतिपादन कर चुके हैं । षड्दर्शनमें वैशेषिकादि चारों दर्शन प्रधानतः पदार्थ-विचारसे और मीमांसा एवं वेदान्त दर्शन श्रुत्यर्थ विचारसे परिपूर्ण हैं ।

षड्दर्शनसे अतिरिक्त दर्शन ।

माधवाचार्य्यने अपने 'सर्व दर्शन संग्रह ग्रन्थमें पन्द्रह दर्शनोंका संक्षिप्त परिचय दिया है। उन्होंने अन्य ग्रन्थमें शाङ्कर-दर्शनका विवरण दिया है, इसलिये सर्वदर्शन-संग्रहमें उसके प्रतिपाद्य विषयका संग्रह नहीं किया है। शाङ्कर-दर्शन एवं सर्वदर्शन-संग्रहमें संगृहीत अन्य पन्द्रह दर्शन ये सब मिलकर माधवाचार्य्यके मतमें दर्शनोंकी संख्या षोडश है। उनमेंसे प्रसिद्ध षड्दर्शनके अतिरिक्त अन्य दर्शनोंका नाम दिया जाता है। चार्वाक दर्शन, बौद्ध दर्शन, आर्हत-दर्शन वा जैन-दर्शन, रामानुज-दर्शन पूर्ण प्रज्ञ-दर्शन नकुलीश पाशुपत-दर्शन, शैव-दर्शन, प्रत्यभिज्ञा-दर्शन, रसेश्वर-दर्शन और पाणिनि-दर्शन। इनमेंसे रामानुज-दर्शन पूर्णप्रज्ञ-दर्शन एवं शैव-दर्शन, वेदान्त दर्शनके प्रस्थान-विशेष-मात्र हैं। सुतराम् षड्दर्शनके अतिरिक्त और सात ही दर्शन हैं।

दर्शनशास्त्रकी रचना-प्रणाली ।

अब दर्शन-शास्त्रकी रचना-प्रणालीके विषयमें कुछ कहना आवश्यक है। अन्यान्य दर्शनोंकी अपेक्षा वैशेषिक और न्याय-दर्शनकी विषय-सन्निवेश-प्रणाली बहुत ही ठीक है। इन दोनों दर्शनोंमें उद्देश, लक्षण और परीक्षा इन तीन प्रकारोंसे प्रतिपाद्य विषयकी आलोचना की गयी है। सबसे पहले उद्देश अर्थात् प्रतिपाद्य विषयोंका नामकीर्तन वा उल्लेख कर उनके सब लक्षण दिखाये गये हैं। लक्षण दिखानेके पीछे उनकी परीक्षा

अर्थात् उपपत्ति और प्रतिवादियोंके मतका खण्डन आदि लिखे गये हैं। विभाग अर्थात् एक एक विषय कितने प्रकारसे विभक्त हो सकता है, यह भी दिखलाया गया है सही; किन्तु पूर्वाचार्य्यों ने सिद्धान्त किया है कि विभाग उद्देशका प्रकार-भेद-मात्र है। वैशेषिक और न्याय-दर्शन प्रथमाधिकारीके लिये हैं अर्थात् उनके द्वारा बुद्धि परिमार्जित होती है। इसलिये उनमें वैसी श्रृङ्खलाका अवलम्बन किया गया है। और और दर्शन द्वितीय आदि अधि-कारियोंके लिये हैं अर्थात् परिमार्जित बुद्धिवालोंके लिये हैं। इसलिये उनमें वैसी श्रृङ्खलाका अवलम्बन नहीं किया गया। पढ़नेवाले सहजमें ही स्थूल विषयोंको ग्रहण कर सकें—इसी विचारसे अधिकांश दर्शन सूत्राकारमें रचे गये हैं। कोई कोई दर्शन ऐसा भी दिखलाई देता है जो श्लोकोंमें रचा गया है।

सूत्र-बृत्ति और रिक्ताका परिचय।

सूत्र अत्यन्त संक्षिप्त हैं, छन्दानुरोधसे अल्प कथामें वाक्य समाप्त करना पड़ता है, इसलिये श्लोकबद्ध वाक्य भी संक्षिप्त ही हो जाते हैं। अतएव दोनों ही कठिन होते हैं, अर्थस्फुट नहीं होता। सुतराम् व्याख्याकी आवश्यकताकी भी निवृत्ति नहीं होती। दर्शन-शास्त्रके विषय सूक्ष्म और जटिल हैं। दर्शन-कारोंके सरलतासे थोड़े ही में निज मत प्रकट कर देनेपर भी विषयकी सूक्ष्मता और जटिलताके कारण उसमें बहुतसी आपत्ति वा आशङ्काएं हो सकती हैं। सम्भावित आपत्ति वा आशङ्काओंको दूर करते हुए दर्शनकारके मतका समर्थन करना

और अच्छी तरहसे विषयको हृदयङ्गम करा देना—यह व्याख्या करनेवालोंका कार्य्य है। इसलिये मूल दर्शनके अर्थात्—सूत्र श्लोकोंके ऊपर अनेक प्रकारके व्याख्या-ग्रन्थ हैं। व्याख्या-ग्रन्थ भी वृत्ति, भाष्य वार्तिक, टीका, टिप्पणी प्रभृति नाना शाखाओंमें विभक्त हैं। इस स्थानपर सूत्रादिका परिचय दिया जाता है।

सूत्रका लक्षण।

सूत्रका लक्षण इस प्रकार निर्दिष्ट हुआ है—

लघूनि सूचितार्थानि स्वल्पाक्षर-पदानिच।
सर्वतः सारभूतानि सूत्राण्याहुर्मनीषिणः॥

अर्थात् नातिलघुदीर्घ अल्प अक्षर और अल्प पदयुक्त अनेक अर्थोंके सूचक और सर्वतोभावसे जो सार-भूत वाक्य हैं, पण्डित लोग उनको सूत्र कहते हैं। अवश्य ही इस प्रकारके सूत्र व्याख्या-सापेक्ष होंगे।

व्याख्याका लक्षण।

व्याख्याका साधारण लक्षण इस प्रकार है:—

"पदच्छेदः पदार्थोक्ति र्विग्रहो वाक्य-योजना।
आक्षेपस्य समाधानं व्याख्यानं पंचलक्षणम्॥"

पदच्छेद—अर्थात् सूत्रमें कितने पद हैं, यह अच्छी तरहसे दिखा देना, पदार्थोक्ति—किस पदका क्या अर्थ है, इसका निर्देश करना, विग्रह—अर्थात् समस्त पदोंके न्यास वाक्योंका

उपन्यास करना, वाक्य योजना अर्थात् समस्त वाक्योंका वा सूत्रों-का अन्वय-अर्थात् वाक्य-घटक पदावलीके सब अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध प्रदर्शन करना, आक्षेपका समाधान—अर्थात् सम्भावित आपत्ति वा आशङ्काका समाधान वा दूर करना, व्याख्याके ये ही पांच लक्षण हैं ।

वेदमें भी पदच्छेद-प्रदर्शनके लिये पद-पाठ वा पद-ग्रन्थ एवं व्याख्याके लिये ब्राह्मण ग्रन्थ विद्यमान हैं । व्याख्या-ग्रन्थमें उक्त पांच विषय होने चाहियें; किन्तु सब व्याख्या-ग्रन्थोंमें उक्त पांच विषयोंका वर्णन नहीं होता । वाक्य-योजना द्वारा पदच्छेदका कार्य सम्पन्न हो जाता है, इस कारण अनावश्यक समझ कर प्रायः सर्वत्र ही पद-च्छेद उपेक्षित हुआ है । लाट्यायन सूत्रके भाष्यमें आचार्य्य अग्निस्वामीने स्थान स्थानपर सूत्रका पदच्छेद दिखाया है । व्याख्या करनेवालोंने स्थलविशेषमें पदका अर्थ निर्द्देश किया है सही, किन्तु अधिकांश स्थलोंपर पदका अर्थ, पृथक्-भाव-निर्द्देशसे नहीं किया गया । वाक्य-योजनाके स्थान हीमें पदका अर्थ कहा गया है ।

व्याख्याकार, आक्षेपके समाधानके लिये स्थल-विशेषमें एकाधिक कल्प वा प्रणालियोंका निर्देश किया करते हैं । जिस स्थलपर अनेक कल्प कहे जाते हैं, उस स्थलपर शेष कल्पका समाधान ही समीचीन है, पूर्व पूर्वक कल्प किञ्चित्-दोष-दुष्ट वा आपत्ति-योग्य समझने चाहियें । शेष कल्पके निर्द्देश करने ही पर जब अच्छे प्रकार आक्षेपका समाधान हो जाता है, तब पूर्व पूर्वके असमीचीन कल्पोंका उपन्यास करना अन्याय वा

अनावश्यक कहा जा सकता है सही, किन्तु भारतीय आचार्य्य-जन इसी रीतिमें अभ्यस्त हैं। वे शिष्य-बुद्धिकी स्वच्छता और परिचालनाके लिये कौशल दिखानेके अभिप्रायसे नाना प्रकारके कल्पोंकी अवतारणा करते हैं। मूल-दर्शनकर्ताओंने भी जिस स्थलमें एक विषयके समर्थनके लिये एकसे अधिक हेतु दिखलाये हैं, उस स्थलपर पूर्व-निर्दिष्ट हेतु, प्रायः असमीचीन वा आपत्ति-योग्य हैं। निष्कर्ष यह है कि शिष्य-बुद्धिको क्रमशः परिमार्जित करनेके लिये भारतीय अचार्यगण उत्तरोत्तर उत्कृष्टतर कल्पोंकी अवतारणा किया करते हैं।

वृत्ति, टीका प्रभृति, व्याख्यान, ग्रन्थ हीके प्रकार-भेद हैं। वृत्ति-ग्रन्थ संक्षिप्त एवं रचनामें गाम्भीर्य्य-युक्त होते हैं।

भाष्यका लक्षण।

भाष्यका लक्षण इस प्रकार कहा गया है :—

"सूत्रार्थों वर्ण्यते यत्र पदैः सूत्रानुसारिभिः।
स्व-पदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्य-विदोविदुः॥"

जिस ग्रन्थमें सूत्रानुसारि-पदोंके द्वारा सूत्रका अर्थ वर्णित होता है एवं अपने प्रयोग किये हुए सब पदोंकी-अर्थात् वाक्यकी भी जहां व्याख्या होती है उसका नाम भाष्य है। भाष्यकी रचना, प्रगाढ़ है। भाष्यका अक्षरार्थ सहज; पर तात्पर्य्यार्थ किञ्चित् आयास-गम्य होता है। कोई कोई वृत्ति, गम्य भाष्यके आकारसे और कोई कोई भाष्य व्याख्याकी प्रणालीसे रचित

देखी जाती है, उसमें भाष्यका लक्षण कुछ भी नहीं। उदाहरण-स्थलमें विज्ञानभिक्षु-कृत सांख्यप्रवचन भाष्यका उल्लेख किया जा सकता है।

वार्तिकका लक्षण ।

वार्तिकका लक्षण इस प्रकार है,—

"उक्तानुक्त-दुरुक्तार्थ व्यक्तकारि तुवार्तिकम् ।"

जिस ग्रन्थमें उक्त, अनुक्त एवं दुरुक्त अर्थ परिव्यक्त होते हैं, उसका नाम वार्तिक है। अर्थात् मूलमें जो कहा गया है, उसकी उत्तम रीतिसे व्याख्या करना, मूलमें जो कहा न हो उसको परिव्यक्त वा व्युत्पादित करना एवं मूलमें जो दुरुक्त अर्थात् असङ्गत कहा गया है, उसका दिखाना एवं वैसे ही स्थलोंपर सङ्गत अर्थका निर्देश करना, वार्तिककारका कर्तव्य है। कात्यायनका वार्तिक पाणिनीय सूत्रपर है। उद्योतकरका न्याय वार्तिक, वात्स्यायनके भाष्यके ऊपर है। कुमारिल भट्टका तन्त्र वार्तिक, जैमिनिके सूत्र एवं शबर स्वामीके भाष्यपर रचा गया है। तात्पर्य्य यह है कि वार्तिक ग्रन्थोंकी सूत्र और भाष्यके ऊपर ही रचना हुआ करती है। वृत्ति, भाष्य प्रभृति ग्रन्थ, को सीमाका अतिक्रम नहीं कर सकते अर्थात् भाष्यकार प्रभृतिको पूर्ण रीतिसे मूल ग्रन्थके मतानुसार चलना होता है।

वार्तिककारकी स्वाधीनता और उसका दृष्टान्त ।

किन्तु वार्तिककार पूर्ण स्वाधीन है। भाष्यकार प्रभृतिके स्वाधीन चिन्ता हो ही नहीं सकती; किन्तु वार्तिकके लक्षणोंकी ओर ध्यान धरके देखनेसे समझा जा सकता है कि वार्तिककार-की स्वाधीन चिन्ताका विकास अच्छी तरह हो सकता है।

वार्तिककारकी स्वाधीनताका एक उदाहरण दिखाया जाता है। मीमांसा दर्शनमें पहले स्मृति-शास्त्रका प्रामाण्य -संस्थापन किया गया है। तत्पश्चात् वेद-विरुद्ध स्मृति प्रमाण हो सकती है कि नहीं,—इस प्रश्नके उत्तरमें दर्शनकार जैमिनिने कहा है, कि "विरोधेत्वनपेक्षं स्या दसतिह्यनुमानम् ।" अवश्य ही यह प्रश्न जैमिनिका उठाया हुआ नहीं है, भाष्यकारने इस प्रश्न-को उठाकर इसके उत्तर स्वरूपमें जैमिनिके सूत्रकी व्याख्या की है। भाष्यकारकी व्याख्या यह है कि—प्रत्यक्ष श्रुतिके साथ विरोध होनेपर स्मृति-वाक्य अनपेक्षणीय है—अर्थात् स्मृति-वाक्यकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये, वह अनादृत होगा। प्रत्यक्ष श्रुतिके साथ विरोध न रहनेपर स्मृति-वाक्य द्वारा श्रुति-का अनुमान करना सङ्गत है।

अपौरुषेय श्रुति, स्वतः प्रमाण है। स्मृति, पौरुषेय अर्थात् पुरुषका वाक्य है। सुतराम् स्मृतिका प्रामाण्य, मूल-प्रमाण सापेक्ष है। पुरुषका वाक्य स्वतः प्रमाण नहीं हो सकता, पुरुष-वाक्यका प्रामाण्य, प्रमाणान्तरकी अपेक्षा करता है। क्योंकि पुरुष जो जान सका वा समझ चुका है, वही औरको

समझानेके लिये शब्द-प्रयोग वा वाक्य-रचना किया करता है। अतएव यह बात स्पष्ट समझमें आती है कि जैसे ज्ञानके मूलमें शब्द प्रयुक्त हुआ है, वही ज्ञान यथार्थ अर्थात् ठीक होनेसे तन्मूलक वाक्य भी ठीक अर्थात् प्रमाण होगा। वाक्य-प्रयोग-का मूलीभूत ज्ञान, अयथार्थ-अर्थात् भ्रमात्मक होगा तो उसका कारण प्रयुक्तवाक्य भी अप्रमाण होगा।

स्मृतिकर्ता सब आप्त पुरुष हैं, उनका माहात्म्य वेदमें भी कहा गया है। वे लोगोंको ठगनेके लिये कोई बात कहेंगे, यह असम्भव है। इसलिये उनकी स्मृतिका मूलभूत वेद-वाक्य अनुमित होता है। उन्होंने वेद-वाक्यका अर्थ स्मरणकर वाक्य-रचना की है, इस कारण उसका नाम स्मृति है। स्मृति में कहे हुए विषय अधिकांशमें अलौकिक अर्थात् धर्म्म सम्बद्ध हैं। पूर्वानुभव, स्मरणका कारण होता है। जिस पदार्थका पहले अनुभव न हुआ हो, उसका स्मरण भी नहीं हो सकता। मुनियोंने जो स्मरण किया है वह पहले उनका, अनुभूत था, यह अवश्यही कहना होगा। वेदके बिना अन्य उपायसे अलौ-किक विषयका अनुभव एक प्रकार असम्भव है। सुतराम् स्मृति द्वारा श्रुतिका अनुमान होना सङ्गत ही है।

स्मृतिकारोंने जो कुछ स्मरण किया है, वह सब वेद-मूलक है, वेदकी पर्य्यालोचना करनेसे ही यह समझमें आ सकता है। अष्टका-कर्म्म स्मार्त है; किन्तु वेदमें उसका उल्लेख है। जला-शय (तालाव) का खुदवाना और प्रपा (प्याऊ) अर्थात् पानीय-शालाकी प्रतिष्ठा आदि स्मृत्युक्त कर्मोंका आभास भी

वेदमें देखा जाता है। भाष्यकारके मतमें जलाशयका खुदवाना और प्रपा-प्रतिष्ठा प्रभृति कर्म्म, दृष्टार्थक हैं। क्योंकि उनके द्वारा लोगोंका उपकार होता है, यह प्रत्यक्ष सिद्ध है। सुतराम् जलाशयादिका खुदवाना धर्मार्थ नहीं, लोकोपकारार्थ है। लोकोपकार अवश्य ही धर्म्मार्थ होगा।

स्मृति-वर्णित अनेक विषयोंकी जब वेदमूलकता स्पष्ट देखनेमें आती है, तब जिन सब स्मृतियोंके मूलीभूत वेदवाक्य हमारे दृष्टिगोचर नहीं होते हैं, उनका भी अनुमान करना सर्वथा उचित है।

स्थाली पुलाक न्याय।

अन्नको पकानेके समय चावल गल गये हैं कि नहीं, यह जाननेके लिये पाकस्थाली (टोकनी) से दो एक चावल निकाल कर देख लिये जाते हैं। हाथसे मला हुआ चावल यदि गला हो तो अनुमान किया जाता है कि सभी चावल गले हुए हैं। क्योंकि सब चावलोंको एक साथही अग्निपर रक्खा था। उनमें से एक गले और एक न गले इसका कोई कारण नहीं। इस युक्तिका शास्त्रीय नाम है—स्थाली-पुलाक-न्याय। प्रस्तुत विषयमें भी अनेक स्मृतियां वेद-मूलक हैं—यह प्रत्यक्ष देखनेमें आता है—इस कारण 'स्थाली पुलाक न्याय'के अनुसार सब स्मृतियोंकी वेद-मूलकता अनुमित हो सकती है। वेदोंको अनेक शाखाएं विलुप्त हो गयी हैं, यह दार्शनिकोंने उत्तम रूपसे सिद्ध कर दिया है। जो लुप्त हो गयी हैं, वे अवश्य ही पहले थीं,

सुतराम् उन विलुप्त वेद-वाक्योंकी भित्तिपर जो सब स्मृतियां रची गयीं हैं, उनके मूलभूत वेद-वाक्य अब दिखाई न देनेसे ये सब स्मृतियां अप्रमाण नहीं हो सकतीं।

किन्तु जो सब स्मृतियां प्रत्यक्ष-श्रुति-विरुद्ध हैं, भाष्यकार कहते हैं कि वह अप्रमाण होंगयी। क्योंकि वेद-मूलक होनेसे ही स्मृतियां प्रमाण हैं, वेद-विरुद्ध स्मृति वेद-मूलक नहीं हो सकती, वरंच वेदके विपरीत होती हैं, इसलिये वे अप्रमाण होती हैं। प्रस्तुत-स्थलमें स्मृतिके मूलरूप में श्रुतिका अनुमान भी नहीं किया जा सकता। कारण, प्रत्यक्ष श्रुतियोंके विरुद्ध अनुमान नहीं हो सकता। भाष्यकारने वेद-विरुद्ध स्मृतिके कई एक उदाहरण दिखाये हैं, उनमेंसे केवल एक उदाहरण यहां उद्धृत करते हैं। ज्योतिष्टोम यागमें 'सदो' नामक मण्डपके बीच एक उदुम्बर वृक्षकी शाखा रोपनी होती है। श्रुतिने कहा है कि इस उदुम्बर-शाखाका स्पर्श कर उद्गाता नामक ऋत्विक् साम-गान करे। समस्त उदुम्बर-शाखाको वस्त्र द्वारा वेष्टन करे —इस प्रकारकी एक स्मृति है। यह स्मृति उक्त वेद-विरुद्ध है। क्योंकि समस्त उदुम्बर-शाखापर वस्त्र वेष्टित होने पर उदुम्बर-शाखाका उपस्पर्श अर्थात् उदुम्बर-शाखा-संयुक्त वस्त्रका स्पर्श हो सकता है सही, किन्तु उदुम्बर शाखाका स्पर्श नहीं हो सकता। उदुम्बर-शाखाका स्पर्श किया जानेसे समस्त उदुम्बर शाखाका वेष्टन नहीं हो सकता। सुतराम् सर्व-वेष्टन-स्मृति, प्रत्यक्ष-श्रुति-विरुद्ध है, अतएव अप्रमाण्य है।

आपत्ति हो सकती है कि पूर्वानुभव न रहनेसे स्मृति वा

स्मरण नहीं हो सकता, सर्ववेष्टन वेद-विरुद्ध है। सुतराम् सर्व वेष्टन विषयमें पूर्वानुभव होनेका कोई कारण नहीं है। और पूर्वानुभवके बिना स्मरण असम्भव भी है। भाष्यकारने इसका उत्तर दिया है कि किसी ऋत्विकने लोभवश वस्त्र-ग्रहण करनेके लिये समस्त उदुम्बर-शाखा, वस्त्रसे वेष्टित कर दी थी, स्मृतिके कर्त्ताने उसे देखकर "सर्व-वेष्टन, वेद-मूलक है"—यह जानकर ही सर्व्ववेष्टन स्मृतिकी रचना कर दी है।

वार्तिक-ग्रन्थमें भाष्य-ग्रन्थ, व्याख्यात एवं समर्थित होनेपर भी वार्तिककार, भाष्यकारके इस सिद्धान्तको असङ्गत समझ कर अन्यप्रकारके सिद्धान्तके पास पहुंच गये हैं। उन्होंने कहा है कि स्मृति सब वेद-मूलक हैं, यह दृढ़तासे सिद्ध हो चुका है। अब कोई एक स्मृति-वाक्य प्रत्यक्ष-श्रुति-विरुद्ध होनेपर भी वह वेद-मूलक नहीं है, लोभादि मूलक है,—यह किस प्रकार सिद्धान्त किया जा सकता है?

सब वेद-वाक्य नाना शाखाओंमें बटे हुए हैं। एक पुरुषके लिये समस्त वेदकी शाखाओंका अध्ययन करना एकान्त ही असम्भव है। कोई व्यक्ति कतिपय शाखा, दूसरे व्यक्ति और और कतिपय शाखाओंका अध्ययन किया करते हैं। यह भी विचारने योग्य है कि—समस्त वेद-वाक्य धर्मानुष्ठानके क्रमानुसार नहीं पठित हुए हैं, यदि वैसे होते तो धर्मानुष्ठानके अनुरोधसे उनका सुप्रचार रह सकता था। साक्षात् सम्बन्धसे जो वेद-वाक्य, प्रचलित धर्मानुष्ठानके उपयोगी हैं, धार्मिकोंके लिये उनका पढ़ना अत्यावश्यक है। उनके अतिरिक्त जो वेदवाक्य

धर्म्मानुष्ठानके क्रमानुसार पढ़े नहीं गये हैं, उनका विरल प्रचार देखकर किसी समय उनके विलुप्त होनेकी आशङ्कासे परम कारुणिक स्मृतिकारोंने वेद्-वाक्य-गत-आख्यानादि अंशको छोड़कर वेद्-वाक्यके अर्थका सङ्कलन कर स्मृतियोंकी रचना की है।

उपाध्याय स्वयं किसी वेद्वाक्यके उच्चारण विना किये ही यदि कहें कि यह अर्थ वा विषय, अमुक शाखा वा अमुक स्थानमें कहा हुआ है, तो आप्त अर्थात् हितोपदेष्टा उपाध्यायके कथनको शिष्य यथार्थ ही समझेंगे। क्योंकि उनका उनमें पूर्ण विश्वास है। इसी प्रकार स्मृति-वाक्य द्वारा ही तदनुरूप वेद्-वाक्यके अस्तित्वका विचार करना न्याय-सङ्गत है। मीमांसकोंके मतमें वेद्-राशि नित्य है, किसीकी निर्मित नहीं। अध्यापक परम्पराके उच्चारण वा पाठ द्वारा अर्थात् कण्ठ तालु प्रभृति प्रदेशोंमें अभ्यन्तरीण वायुके अभिघातसे जिस ध्वनिकी उत्पत्ति होती है, उस ध्वनिसे नित्य वेदकी केवल अभिव्यक्ति होती है। जैसे न्याय-मतमें चक्षु आदिके सन्निकर्ष-विशेष अर्थात् सम्बन्ध-विशेष द्वारा नित्य गोत्वादि जातियोंकी अभिव्यक्ति होती है, आलोकादि द्वारा घटादिकी अभिव्यक्ति होती है, उसी प्रकार मीमांसक-मतमें कण्ठ तालु प्रभृति प्रदेशोंमें समुत्पन्न ध्वनि-विशेषके द्वारा नित्यवेदकी अभिव्यक्तिका होना असङ्गत नहीं हो सकता।

अध्यापक वा अध्येताकी ध्वनि-विशेषके द्वारा जैसे वेदकी अभिव्यक्ति होती है, स्मृतिकारोंके स्मरण द्वारा उसी प्रकार वेद्की अभिव्यक्ति होगी, इसमें सन्देह ही क्या है? स्मृतिकार भी

एक समय शिष्योंको पढ़ाया करते, तब उनके उच्चारणमें वेदकी अभिव्यक्ति होती- इसमें कुछ सन्देह नहीं, यदि ऐसा ही है तब उनके स्मरणने क्या अपराध किया है, जो उससे वेद-वाक्यकी अभिव्यक्ति न होगो ? सुतराम् ध्वनि-विशेषके द्वारा अभिव्यक्त वेद एवं स्मृतिकारोंके स्मरण द्वारा अभिव्यक्त वेद दोनों ही सब प्रकारसे तुल्य हैं। इनमें परस्पर कुछ भी तारतम्य वा बला-बल भाव नहीं हो सकता । स्मतार्थ श्रुति अर्थात् जिस श्रुति-का अर्थ मुनियोंसे स्मृत हुआ है, वह श्रुति और पठित श्रुति ये दोनों श्रुति ही समान (तुल्यबल) हैं। इसमें एक दूसरीकी बाधा नहीं कर सकतो। स्मृतिशास्त्रमें कोई एक स्मृति यदि आद्योपान्त समस्त ही अवैदिक होती, तब वह स्मृति कभी भी शिष्टजनोंसे व्यवहृत न होती, उसके अतिरिक्त और और वैदिक स्मृति-मात्र ही व्यवहृत होतीं और अवैदिक स्मृति परित्यक्त होतीं। वस्तुतः कोई भी स्मृति अवैदिक नहीं है, यह देखा गया है कि सभी स्मृतियां कठ और मैत्रायणीय-प्रभृति शाखा-परि-पठित श्रुतिमूलक हैं।

बार्तिककारने कहा है कि जब देखा जाता है कि समस्त स्मृति-शास्त्र ही वेद-मूलक है, तब उसमेंका एक वाक्य— जिसका मूलीभूत वेदवाक्य अस्मदादिके दृष्टिगोचर नहीं होता है, वह वेद-मूलक नहीं-अन्य-मूलक अर्थात् भ्रान्तिमूलक वा लोभ मूलक है—हमारी जिह्वासे तो ऐसी बात कही भी नहीं जाती। जो नैयायिकम्मन्य,प्रत्यक्ष अर्थात् उनकी जानी हुई श्रुतिके विरुद्ध होनेपर किसी स्मृति-वाक्यको अप्रमाण कहकर उपेक्षा वा

परित्याग करते हैं, कालान्तरमें उनके उपेक्षित स्मृति-वाक्य-की मूली-भूत-शाखान्तर-पठित श्रुति, जब उनके श्रवणगोचर वा ज्ञानगोचर होगी, तब उनके मुखकी कान्ति कैसी हो जायगी ? तब वे अवश्य ही लज्जित होंगे, इसमें सन्देह नहीं।

केवल इतना ही नहीं, जो अपने ज्ञानको ही पर्य्याप्त (पूर्ण) समझता है अर्थात् अपनेको एक प्रकारका सर्वज्ञ समझ लेता है, उसको पद पदमें लज्जित होना पड़ता है। उसकी बाधा-बाध व्यवस्था भी अव्यवस्थित हो पड़ती है। कारण, एक समय जिसने अपनी जानी हुई श्रुतियोंसे विरुद्ध कहकर जिस स्मृति वाक्यको अप्रमाण वा वाधित समझा था, समयान्तरमें उस स्मृति वाक्यकी मूलीभूत शाखान्तरपठित श्रुति, जिसको कि वह पहले नहीं जानता था—जाननेपर उसी स्मृति-वाक्यको फिर प्रमाण वा अवाधित कहकर उसीको उसे सिद्धान्त मानना होगा।

वार्तिककारने और भी कहा है कि भाष्यकारने जिस उदुम्बर-शाखाकी सर्व-वेष्टन-स्मृतिको श्रुति विरुद्ध कहा है, सो ठीक नहीं हुआ। शाट्यायनि ब्राह्मणमें प्रत्यक्ष पठित श्रुति ही उसका मूल है। शाट्यायनि ब्राह्मणमें इस प्रकारकी प्रत्यक्ष श्रुति है कि औदुम्बरीका उर्ध्वभाग और अधोभाग पृथक् पृथक् वस्त्र द्वारा वेष्टन करे। वार्तिककार इतना कहकर ही चुपके नहीं हुए, उन्होंने यह श्रुति निज ग्रन्थोंमें उद्धृत भी कर दिखायी है। औदुम्बरी-वेष्टन-स्मृति यदि श्रुति-मूलक है, तब उसका किसी प्रकार स्पर्श श्रुति द्वारा वाधित नहीं हो सकता। क्योंकि जब दोनों ही श्रुति हैं, तो तुल्यबल हैं; तब कौन किसको वाधा पहुंचा

सकती है ? हां, दोनों प्रमाण तुल्यबल होनेसे विकल्प हो सकता है ।

दर्श पौर्णमास यागमें यव (जौ) द्वारा होम करे, व्रीहि (चावल) द्वारा होम करे—इस प्रकारकी दो श्रुति हैं । इस स्थलपर यव और व्रीहि दोनों ही प्रत्यक्ष-श्रुति-बोधित होनेसे यव-व्रीहिका विकल्प है—यह सर्व्व-सम्मत है । यहां अपनी इच्छा-नुसार यव वा व्रीहि इन दो में से किसी एक द्वारा होम करनेही से याग सिद्ध होगा । वैसेही प्रकृत स्थल पर भी औदुम्बरी वेष्टन करे और औदुम्बरी स्पर्श करे—ये दोनों विषय परस्पर विरुद्ध समझे जाने कोपर भी—यव व्रीहिकी नाईं दोनोंका विकल्प है—ऐसा सिद्धान्त करना ही भाष्यकारको उचित था । वेष्टन-स्मृतिको वाधित निश्चय करना सङ्गत नहीं हुआ । वेदमें यदि आरम्भसे ही विकल्प-विधि न होती तब स्पष्ट-श्रुति-विरुद्ध कहकर वेष्टन स्मृति अनादरणीय भी हो सकती, किन्तु वेदमें सैकड़ो स्थलोंमें विकल्प देखनेमें आता है ।

विकल्प स्थलमें कल्प-रूप परस्पर विरुद्ध होते हैं—यह कहना विस्तार मात्र है । सुतराम् अपनी परिज्ञात श्रुतिके साथ विरोध होता देख वेष्टन स्मृतिका असामाण्य निश्चय करना नितान्त ही असङ्गत हुआ है ।

प्रस्तुत विषयमें वस्तुगत्या विरोध भी नहीं है । क्योंकि वेष्टन मात्र तो स्पर्श श्रुतिके विरुद्ध हो नहीं सकता । स्पर्शन-योग्य दो तीन अङ्गुलि परिमित स्थान परित्याग कर औदुम्वरी-का उत्तरभाग वेष्टन करनेसे कुछ भी विरोध नहीं हो सकता,

क्योंकि औदुम्बरीके उत्तर भागके स्पर्श करनेकी विधि है। "सर्वा औदुम्बरी वेष्टयितव्या" सूत्रकारने ऐसा नहीं कहा, "औदुम्बरी परिवेष्टयितव्या"—यही सूत्रकारका वाक्य है। इस स्थानमें 'परि' शब्दका अर्थ, सर्वभाग अर्थात् ऊर्ध्वभाग और अधोभाग ये दोनों भाग वेष्टन करना ही सूत्रकारके वाक्यका तात्पर्य्यार्थ है। सर्वस्थान वेष्टन करना उसका अर्थ नहीं है। याज्ञिक लोग भी औदुम्बरीके दोनों भाग वेष्टन करते हैं सही, किन्तु कर्ण-मूल-प्रदेशका वेष्टन नहीं करते।

वार्तिककार कहते हैं,—सर्व्ववेष्टन-वाक्य लोभ-मूलक है, भाष्यकारकी यह कल्पना भी समीचीन नहीं है। क्योंकि समस्त-वेष्टन न कर मूल और अग्रभाग वेष्टन करनेपर अर्थात् स्त्रियोंकी तरह एक परिधानीय वस्त्र और एक उत्तरीय वस्त्र इन दोनों वस्त्रोंसे औदुम्बरीका मूल भाग और अग्रभाग वेष्टन करनेसे लोभकी चरितार्थतामें अवशिष्ट क्या रह जाता है, जिसके लिये सर्व-वेष्टन करनेकी आवश्यकता हो सकती? और भी विचारनेकी बात है, कि औदुम्बरीका साक्षात् स्पर्श किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है। कारण कि प्रथम तो कुश द्वारा औदुम्बरीको वेष्टन करनेकी विधि हैं, पीछे कुश-वेष्टित औदुम्बरीको वस्त्र द्वारा वेष्टन करना पड़ता है। याज्ञिक लोग ऐसा ही किया करते हैं। वस्त्र-वेष्टन ही तो लोभ-मूलक कहलाकर अप्रमाण हुआ। कुश-वेष्टनको फिर लोभ-मूलक कहनेका कोई उपाय भी नहीं है।

तड़ाग, प्रपा(प्याऊ) आदिका उपदेश, दृष्टार्थक है, धर्म्मार्थक नहीं है, भाष्यकारका ऐसा सिद्धान्त करना भी ठीक नहीं हुआ। क्योंकि जो वेदमें कर्तव्य कहलाकर उपदिष्ट हुआ है, वही धर्म्म है, यह जैमिनिका कथन है। भाष्यकारने भी इसको अस्वीकार नहीं किया है। इसमें कोई कारण नहीं कि दृष्टार्थ होनेसेही धर्म्म नहीं होता। प्रत्युत तण्डुल-निष्पत्तिके लिये व्रीहि (धान) आदिका अवहनन, (कूटना) चूनके लिये तण्डुलोंका पेषण (पीसना) आदि सहस्रों दृष्टार्थ कर्म्म, वेद-विहित होनेसे धर्म्म-रूपसे अङ्गीकार किये गये हैं। और चार्व्वाक प्रभृति विरुद्ध-वादी लोग वेद-विहित अदृष्टार्थ कर्म्ममें भी दृष्टार्थताकी कल्पना करनेका परिश्रम करते हैं। अतएव चाहे दृष्टार्थ और चाहे अदृष्टार्थ हो, वेदमें जो कर्तव्य कहलाकर विहित हुआ है, वही धर्म्म है—इसको मीमांसक लोग अस्वीकार नहीं कर सकते। वार्तिककारने इस प्रकार अनेक हेतु दिखलाकर भाष्यकारका मत खण्डन किया है, उन्होंने भाष्यकारका मत खण्डन कर जैमिनि-सूत्रोंका अर्थ और प्रकारसे किया है।

श्रुतिसे विरोध न होनेपर स्मृतिका प्रामाण्य।

वे कहते हैं कि जब निश्चय हो चुका कि श्रुति-स्मृतिका विरोध नहीं है और विरोध होनेसे वह दो श्रुतियोंके विरोधके रूपमें पर्य्यवसित होता है, अर्थात् भिन्न भिन्न श्रुति-प्रतिपादित भिन्न भिन्न कल्पमें इच्छानुसार किसी एक कल्पके अनुष्ठान करनेसे ही अनुष्ठाता, चरितार्थ होता है। तब जिस स्थलमें

प्रत्यक्ष परिदृष्ट श्रुतिसे एवं स्मृतिसे भिन्न भिन्न प्रकारसे कर्म्म कहे गये हैं, उस स्थलमें भी अवश्य कोई एक ही अनुष्ठेय होगा। ऐसो अवस्थामें प्रयोग अथवा अनुष्ठानके नियमके लिये अनुष्ठाता लोगोंके अत्यन्त हितैषी जैमिनि सुहृद् भावसे कहते हैं कि, श्रौत और स्मार्त पदार्थ परस्पर विरुद्ध होनेपर श्रौत पदार्थका अनुष्ठान करे। श्रौत पदार्थके साथ विरोध न होनेसे स्मार्त पदाथ, श्रौत पदार्थकी नाईं अनुष्ठेय हैं। स्मृतिकार जावालने भी ऐसा ही कहा है,—

"श्रुति-स्मृति-विरोधे तु श्रुतिरेव गरोयसी।
अविरोधे सदा कार्यं स्मार्तं वैदिकवत्सदा॥

श्रुति-स्मृतिका विरोध होनेपर श्रुति ही बड़ी है। अर्थात् उस स्थलपर श्रौत पदार्थका अनुष्ठान करना चाहिये, जिस स्थानमें श्रुति और स्मृतिका विरोध नहीं है, वहां सज्जनोंको चाहिये कि स्मार्त पदार्थका वैदिक पदार्थके समान अनुष्ठान करें। इस प्रकारकी व्यवस्थाका कारण यह है कि सब लोग पर-प्रत्यक्षकी अपेक्षा अपने प्रत्यक्षका अधिक विश्वास करते हैं। स्मृतिकी मूली-भूत श्रुतियां जो शाखान्तरमें विप्रकीर्ण हैं—पर-प्रत्यक्ष होने पर भी अनुष्ठाता निज-प्रत्यक्ष श्रुतिके प्रति अधिक आस्था करनेको वाध्य है। यव और व्रीहि दोनों ही प्रत्यक्ष-श्रुति-विहित हैं, सुतराम् विकल्पित हैं। कोई अनुष्ठाता यदि एक ही अर्थात् केवल यव वा केवल व्रीहिके सहारे चिरजीवन यागका अनुष्ठान करे, तो जैसे कुछ भी दोष नहीं होता, उसी

प्रकार प्रकृत स्थलमें भी श्रौत वा स्मार्त इन दोनोंमें कोई एक अनुष्ठान शास्त्रानुमत होनेपर भी केवल श्रौत पदार्थका अनुष्ठान करनेसे कुछ भी दोष नहीं हो सकता। प्रस्तावित जैमिनि-सूत्रों-की और प्रकारकी व्याख्या कर वार्तिककारने यह भी सिद्ध किया है कि इस सूत्रसे शाक्य आदि स्मृतियोंका धर्म्ममें प्रामाण्य नहीं—यही समर्थित हुआ है।

वार्तिककारने अन्यान्य अनेक स्थलोंमें भी भाष्यकारके मत-को प्रत्याख्यात और जैमिनिके सूत्रोंका अर्थान्तर किया है। इन सब स्थलोंमें सूत्रकारके प्रति सन्मान तो दिखाया है, किन्तु किसी किसी स्थलमें सूत्रकारका भी खण्डन करनेमें वे संकुचित नहीं हुए हैं। न्यायवार्तिककार उद्योतकरमिश्रने भी इसी प्रकार स्वाधीन विचारका परिचय दिया है, और और वार्तिकोंमें भी थोड़ा बहुत स्वाधीन चिन्ताका चमत्कार देखनेमें आता है। इस प्रकारकी स्वाधीन चिन्ताका प्रसार प्रशंसनीय और प्रार्थनीय है, सो बुद्धिमान् लोग अनायास ही समझ सकते हैं, इसके लिये वागाडम्बर निष्प्रयोजन है।

सूत्र, वृत्ति, भाष्य, वार्तिक, टीका तथा टीप्पणीके अतिरिक्त और एक श्रेणीके ग्रन्थ हैं, उनका नाम प्रकरण है।

प्रकरणका लक्षण ।

प्रकरणका लक्षण इस प्रकार कहा है—

"शास्त्रैक देश-सम्बद्धं शास्त्र-कार्य्यान्तरे स्थितम्
आहुः प्रकरणं नाम ग्रंथ-भेदं विपश्चितः ॥"

"शास्त्रके एक देशके साथ जिसका सम्बन्ध है अर्थात् शास्त्र-प्रतिपाद्य किसी एक विषयको अवलम्बन कर जो निर्मित हुआ है, और शास्त्रके उद्देश्य-सम्पादनके विषयमें जो स्थित है, ऐसे ग्रन्थ-विशेषका नाम प्रकरण है।" उदयनाचार्यकी न्याय-कुसुमाञ्जलि और आत्मतत्व-विवेक, गङ्गेशोपाध्यायकी तत्वचिन्तामणि, श्रीहर्षका खण्डन-खण्ड-खाद्य, मधुसूदनसरस्वतीकी अद्वैतसिद्धि, और चित्सुखस्वामीकी तत्व-प्रदीपिका प्रभृति उत्कृष्ट प्रकरण ग्रन्थ हैं। अंग्रेजी भाषामें 'मनोग्राफ' भी प्रकरण ग्रन्थविशेष है।

नव्य नैयायिकोंके व्याख्या-कौशलका संक्षिप्त दृष्टान्त।

दर्शनके टीकाकारोंने विशेषतः नव्य न्यायके टीकाकारोंने किस प्रकार बुद्धि परिचालन की है, किस प्रकारका कौशल निकाला है, और कैसा पाण्डित्य दिखलाया है, उसका कुछ आभास मात्र यहां दिखलाया जाता है। इस बातको अनेक मनुष्य जानते हैं कि धूम दर्शनसे वन्हि (अग्नि) की अनुमिति होती है, वन्हि-दर्शनसे धूमकी अनुमिति नहीं हो सकती। अनुमिति-स्थलमें व्याप्ति-ज्ञान अवश्य अपेक्षित होता है। व्याप्ति-ज्ञान ही अनुमान है और उससे जो दूसरी वस्तुका ज्ञान उत्पन्न होता है, यह ज्ञान 'अनुमिति' कहा जाता है। धूएंमें वन्हिकी व्याप्ति है—इस प्रकारका व्याप्ति-ज्ञान, अनुमान है। तत्पश्चात् उत्तर-कालमें जो धूम-दर्शनसे वन्हि-विषयमें ज्ञान उत्पन्न होता है, वही ज्ञान, अनुमिति-पद-वाच्य है।

व्याप्ति (सम्बन्ध) ज्ञानके विना अनुमिति नहीं होती। धूम-दर्शनसे वन्हिकी अनुमिति होती है, घटकी अनुमिति नहीं होती। कारण, धूएंमें वन्हिकी व्याप्ति है, घटकी व्याप्ति नहीं। व्याप्ति अर्थात् विशेषरूपसे आप्ति—नाम सम्बन्ध। सम्बन्धका विशेषत्व है अव्यभिचार। व्यभिचार कहते हैं तद् व्यतिरिक्तमें अवस्थितिको, अर्थात् उसके अभावमें उसका होना। सुतराम् अव्यभिचरित सम्बन्ध ही व्याप्ति है। जिसका सम्बन्ध होता है, उसको सम्बन्धका 'प्रतियोगी' कहते हैं। जिसमें यह सम्बन्ध रहता है, उसको सम्बन्धका 'अनुयोगी' कहा जाता है। यह प्रतियोगी-अनुयोगी भाव अनुभव-सिद्ध है। योग शब्दका अर्थ है—सम्बन्ध, इसलिये योगीका अर्थ है सम्बन्धी। प्रति शब्दका अर्थ, प्रतिकूल है, और अनु शब्दका अर्थ अनुकूल। प्रतियोगी नाम प्रतिकूल सम्बन्धी और अनुयोगी नाम अनुकूल सम्बन्धी।

घटत्व और घटका समवाय सम्बन्ध है। इस समवाय सम्बन्धका प्रतियोगी घटत्व है और अनुयोगी घट। क्योंकि, घटत्वका समवाय, घटत्वमें नहीं रहता, घटमें रहता है। सुतराम् घटत्व, समवायका सम्बन्धी है सही, किन्तु प्रतिकूल सम्बन्धी है। क्योंकि घटत्व, समवायका सम्बन्धी होकर भी उसका आश्रय नहीं होता है, उसको अन्यत्र आश्रय ग्रहण करनेको वाध्य करता है। इसलिये घटत्व, समवायका प्रतियोगी है। घट किन्तु समवायका अनुकूल सम्बन्धी है। क्योंकि समवाय, घटाश्रित है। इसलिये घट, समवायका

अनुयोगी है। मनुष्य, आसन पर बैठता है, इस कारण मनुष्य और आसनका सम्बन्ध है। इस सम्बन्धका प्रतियोगी मनुष्य और अनुयोगी आसन है। इसलिये मनुष्य, आसन पर है—इस प्रकारका अनुभव होता है। मनुष्य पर आसन है, इस प्रकारका अनुभव नहीं होता। वन्हिका व्याप्ति-सम्बन्ध धूममें है, इसलिये वन्हि और धूम यथाक्रम व्याप्तिके प्रतियोगी और अनुयोगी हैं। व्याप्तिके प्रतियोगीका दूसरा नाम व्यापक है और व्याप्तिके अनुयोगीका दूसरा नाम व्याप्य है। वन्हि, धूमका व्यापक और धूम, वन्हिका व्याप्य है। व्याप्यके द्वारा व्यापककी अनुमिति हुआ करती है। क्योंकि व्याप्यकी सत्तासे व्यापककी सत्ता अवश्यम्भाविनी है। धूमकी सत्तासे वन्हिकी सत्ता अवश्य ही रहेगी। क्योंकि वन्हि, कारण और धूम, कार्य है। कारण भिन्न कार्य्यका होना एकान्त असम्भव है। इसलिये धूमके द्वारा वन्हिकी अनुमिति होती है। किन्तु व्यापककी सत्तासे व्याप्यकी सत्ता अवश्यम्भाविनी नहीं है। अयो-गोलकमें अर्थात् तपाये हुए लोह-पिण्डमें वन्हिकी सत्ता है। क्योंकि उसके संयोगसे दाह्य वस्तु दग्ध होजाती है। अयो-गोलकमें वन्हि की सत्ता है सही, किन्तु धूमकी सत्ता नहीं है—यह प्रत्यक्ष-सिद्ध है। वस्तुतः वन्हि सर्वदा धूमका उत्पादन नहीं करती, काल-विशेष और अवस्था-विशेषमें किया करती है। सुतराम् वन्हिके होनेसे धूम अवश्य ही होगा, यह हो नहीं सकता। अतएव व्याप्य धूम, व्यापक वन्हिकी अनुमितिका कारण है, किन्तु व्यापक वन्हि, व्याप्य धूमकी अनुमितिका कारण नहीं

है। अयो-गोलकमें देखा गया है कि वन्हि है और धूम नहीं है। सुतराम् धूममें वन्हिकी व्याप्ति है सही, किन्तु वन्हिमें धूमकी व्याप्ति नहीं है।

'तत्वचिन्तामणि' नामक न्यायके प्रसिद्ध ग्रन्थमें व्याप्तिके अनेक लक्षण दिखाये हैं, उसका प्रथम लक्षण इस प्रकार है— **'साध्याभाववद् वृत्तित्वम्'**— इसका मोटा मोटा तात्पर्य यह है कि साध्यका अभाव जिस स्थलमें रहे, उस स्थलमें हेतु न रहनेसे ही—हेतु, साध्य-वाप्य होगया समझ लेना चाहिये। जिसकी अनुमिति हो, उसका नाम साध्य है। जिसके देखनेसे अनुमिति होती है, उसका नाम हेतु है। **'वन्हिमान् धूमात्'** यहां वन्हि, साध्य है और धूम, हेतु है। वन्हिका अभाव, जलह्रद (तालाव) आदिमें है, वहां धूम नहीं रहता। सुतराम् धूम, वन्हि-वाप्य है। अर्थात् धूममें वन्हिका व्याप्ति-सम्बन्ध है। **'धूमवान् वन्हेः'** इस जगह साध्य, धूम है। अयो-गोलकमें धूमका अभाव है, फिर भी वहां वन्हि है। अतएव वन्हि, धूमका व्याप्य नहीं है, वन्हिमें धूमका व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है।

लक्षणको दार्शनिक रीतिसे समझना हो तो इस बातकी ओर लक्ष्य करना आवश्यक है कि सम्बन्धके जिस प्रकार अनुयोगी प्रतियोगी हैं। अभावके भी उसी प्रकार प्रतियोगी अनुयोगी हैं। जिसका अभाव, वह अभावका प्रतियोगी, जिसमें अभाव रहता है वह अभावका अनुयोगी वा अधिकरण है। प्रतियोगीका भाव या धर्म प्रतियोगिता, अनुयोगीका

भाव या धर्म अनुयोगिता है। प्रतियोगिता, प्रतियोगीमें रहती है, अतएव प्रतियोगिता, प्रतियोगि—निष्ठ कही जाती है। क्योंकि 'नि' पूर्वक स्थिति—अर्थवाले 'स्था' धातुसे 'निष्ठ' पद निष्पन्न हुआ है। अभावकी प्रतियोगिता और अनुयोगिता-है, अतएव प्रतियोगिता और अनुयोगिता, अभाव-निरूप्य वा अभाव-निरूपित हैं और अभाव, प्रतियोगिता और अनुयोगिता-का निरूपक है। निरूप्य-निरूपक-भाव, अनुभव-सिद्ध है। भूतलमें घटका अभाव है, इस स्थलमें अभावका प्रतियोगी, घट है और अनुयोगी भूतल है। अभावकी प्रतियोगिता, भूतल-निष्ठ है। अभाव, घट-निष्ठ प्रतियोगिताका निरूपक है। जो किसी आधारमें स्थित हो, उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिका भाव या धर्म्म, वृत्तित्व है। वृत्तित्व अर्थमें भी वृत्ति शब्द व्यवहृत होता है—

वृत्तित्त्व नाम आधेयत्वका है। जिस आधार वा अधि-करणमें आधेय पदार्थ रहता है, आधेयत्व वा वृत्तित्व उसी आधार वा अधिकरण द्वारा नियमित है। सुतराम् वह अर्थात् वृत्तित्व उस अधिकरण-निरूपित है। अतएव साध्या-भाव शब्दका अर्थ हुआ, साध्य-निष्ठ-प्रतियोगिता-निरूपक अभाव। इस भावका अधिकरण हुआ, 'साध्याभाववान्'। अवृत्तित्व शब्दका अर्थ है, वृत्तित्वका अभाव। वृत्तित्व अव-श्यही साध्याभावका अधिकरण-निरूपित होगा। तब तो 'साध्याभाववद् वृत्तित्वम्—इस लक्षणका अर्थ होता है, साध्य-निष्ठ प्रतियोगिता-निरूपक जो अभाव, उस अभावका

अधिकरण-निरूपित जो वृत्तित्व, उस वृत्तित्वके अभावको 'व्याप्ति' कहते हैं। **'वन्हिमान् धूमात्'** इस स्थलमें साध्य है, वन्हि। सुतराम् वन्हि-निष्ठ-प्रतियोगिता-निरूपक अभाव हुआ, वन्हिका अभाव। इस अभावका अधिकरण हुआ, जलाशयादि। तन्निरूपित-वृत्तित्व धूममें नहीं है, धूममें तादृश वृत्तित्वका अभाव है। सुतराम् धूममें वन्हिकी व्याप्ति है, यह स्थिर हुआ।

'तत्वचिन्तामणि'के महा विद्वान् टीकाकारोंने इस लक्षणपर बहुतसी आपत्तियां और उनके समाधान किये हैं। केवल एक ही आपत्ति और उसका समाधान यहां दिखाया जाता है। न्यायमतमें अवयव और अवयवीके सम्बन्धका नाम समवाय है। तद्भिन्न द्रव्य-द्रव्यके सम्बन्धका नाम संयोग है। वन्हि और वन्हिके अवयवका सम्बन्ध समवाय है। वन्हि और पर्वतादिका सम्बन्ध संयोग है। वन्हि, समवाय सम्बन्धसे केवल अपने अवयवोंमें और संयोग सम्बन्धसे पर्वतादिमें रहती है। वन्हि, समवाय सम्बन्धसे पर्वतादिमें कभी रहती नहीं, रह सकती भी नहीं और यह निश्चय सत्य है कि संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें वन्हि रहनेपर समवाय सम्बन्धसे पर्वतमें वन्हि नहीं रहती।

जिस स्थानमें जिस सम्बन्धसे जो वस्तु रहती है, उस स्थानमें अवश्य ही उस सम्बन्धसे उस वस्तुका अभाव रहता है। अतएव समवाय सम्बन्धसे वन्हिका अभाव पर्वतमें है और वहां धूम भी है। सुतराम् धूममें वन्हिकी व्याप्ति नहीं

रह सकती। क्योंकि, समवाय सम्बन्धसे जो वन्हिका अभाव है, पर्वत भी उसका अधिकरण है, किन्तु पर्वत-निरूपित-वृत्तित्व का अभाव, धूममें नहीं है। पर्वत-निरूपित वृत्तित्व ही धूममें रहता है।

और एक बात है। संयोग सम्बन्धसे वन्हि पर्वतमें है, इस कारण, संयोग सम्बन्धसे वन्हिका अभाव, पर्वतमें नहीं, सो ठीक है; किन्तु पर्वतीय वन्हि ही संयोग सम्बन्धसे पर्वतमें है, महानसमें अर्थात् पाकशालामें जो वन्हि है, वह वन्हि संयोग-सम्बन्धसे पर्वतमें नहीं है। क्योंकि महानसीय वन्हिका संयोग, महानसमें ही है। महानसीय वन्हिका संयोग किसी प्रकार पर्वतमें नहीं हो सकता। सुतराम् संयोग सम्बन्धसे महानसीय वन्हिका अभाव पर्वतमें है। इसमें कुछ भी भूल नहीं है। महानसीय वन्हि भी वन्हि है। पर्वत भी इस अभाव-का अधिकरण है और पर्वतमें धूम रह गया है। एतावता भी धूममें वन्हिकी व्याप्ति नहीं रह सकती।

इस आपत्तिका इस प्रकार समाधान किया गया है— **'पर्वतो वन्हिमान्, धूमात्'**—इस स्थल पर पर्वतमें वन्हि, साध्य और धूम, हेतु है। यहां समवाय सम्बन्धसे वन्हि, साध्य नहीं है, संयोग सम्बन्धसे वन्हि, साध्य हुई है। अर्थात् पर्वतमें वन्हिका संयोग या संयोग सम्बन्धसे वन्हि है—धूम-दर्शनसे यही अनुमित होता है। क्योंकि समवाय सम्बन्धसे वन्हि केवल अपने (वन्हिके) अवयवोंमें ही रहती है, अवयवोंके विना और सब जगह संयोग सम्बन्धसे ही वन्हि रहती है,

समवाय सम्बन्धसे नहीं। जिस स्थानमें जिस सम्बन्धसे जो वस्तु रहती वा रह सकती है, उस स्थानमें उस सम्बन्धसे वह वस्तु, साध्य होगो, यह एक सोधी बात है। जिस स्थानमें जिस सम्बन्धसे जिस वस्तुका होना असम्भव है, उस स्थानमें उस सम्बन्धसे वह वस्तु साध्य नहीं हो सकती। सुतराम् व्याप्तिके लक्षणमें, साध्यके अभाव कहनेसे, जिस सम्बन्धसे साध्य होता है, उसी सम्बन्धसे साध्यका अभाव समझना चाहिये।

प्रकृत स्थलमें संयोग सम्बन्धसे वन्हि, साध्य है, किन्तु संयोग सम्बन्धसे वन्हिका अभाव, पर्वतमें नहीं है। संयोग सम्बन्धसे वन्हिका अभाव, वन्हिके अवयवोंमें एवम् जिस प्रदेशमें वन्हि नहीं है, उस प्रदेशमें है। वन्हिके अवयव या वन्हि-शून्य प्रदेशमें धूम भी नहीं रहता है। सुतराम् साध्याभावका जो अधिकरण है, तन्निरूपित वृत्तित्व, धूममें नहीं है। अतएव समवाय सम्बन्धसे वन्हिका अभाव, पर्वतमें रहते हुए भी धूममें वन्हिकी व्याप्ति रहनेमें, कुछ बाधा नहीं हो सकती। 'वन्हि-मान्'—इस स्थलमें शुद्ध वन्हित्व रूपसे वन्हि, साध्य हुई है। महानसीय वन्हित्व रूपसे वन्हि, साध्य नहीं है। क्योंकि 'वन्हिमान्'—इस स्थलमें शुद्ध वन्हित्व ही की प्रतीति होती है, महानसीय वन्हित्वकी प्रतीति नहीं होती। 'पर्वते महा-नसीय-वन्हिर्नास्ति'—अर्थात् पर्वतमें महानसीय वन्हि नहीं है—इस प्रकारकी प्रतीति होती है सही, किन्तु 'पर्वते

वन्हि नास्ति"—अर्थात् पर्वतमें वन्हि नहीं है—इस प्रकार-की प्रतीति नहीं होती। तब तो पर्वतमें महानसीय वन्हिका अभाव रहने पर भी, वन्हिका अभाव नहीं है—यह अनायास ही कहा जा सकता है। अर्थात् महानसीय वन्हित्व-रूप वन्हिका अभाव पर्वतमें है, किन्तु शुद्ध वन्हित्व-रूपसे वन्हिका अभाव पर्वतमें नहीं है। शुद्ध वन्हित्व-रूपसे ही किन्तु पर्वतमें वन्हि, साध्य हुई है, महानसीय वन्हित्व-रूपसे साध्य नहीं है। जैसा साध्य हो, वैसाही साध्यका अभाव, व्याप्ति-लक्षणस्थ साध्या भाव शब्दका अर्थ है।

सुतराम् पर्वतमें महानसीय वन्हिका अभाव रहनेपर भी, धूममें वन्हिकी व्याप्ति होनेमें, कुछ व्याघात नहीं हो सकता। सान्धाभाव शब्दका अर्थ नवीन न्यायकी भाषामें बोलनेसे, इस प्रकार कहा जाता है कि—'साध्यतावच्छेदक-सम्बंधावच्छिन्न-साध्यतावच्छेदक-धर्म्मावच्छिन्न-प्रतियोगिता-निरूपक—अभाव ही साध्याभाव शब्दका अर्थ है, साध्य-का धर्म है, साध्यता। साध्य जिस सम्बन्धसे साध्य होता है, वही सम्बन्ध, साध्यतावच्छेदक सम्बन्ध है। साध्य अंश में प्रतीयमान धर्म्म अर्थात् जिस प्रकारका साध्य होता है, उसी प्रकार वा उस धर्म्मका नाम साध्यतावच्छेदक धर्म्म है। क्योंकि यह सम्बन्ध एवम् धर्म्म, साध्यताका अवच्छेद—अर्थात् परि-चय वा नियमन करता है। संयोग सम्बन्धसे वन्हिकी सा-ध्यता और समवाय सम्बन्धसे वन्हिकी साध्यता नहीं, भिन्न भिन्न हैं। कारण, एक साध्यताका नियामक वा परि-

चायक संयोग सम्बन्ध है, दूसरी साध्यताका नियामक वा परिचायक सम्बन्ध, समवाय है।

इस प्रकार वन्हि-गत साध्यता एवम् घट-गत साध्यता भी परस्पर वन्हित्व है और घट गत साध्यताका नियामक वा परिचायक धर्म्म, वन्हित्व है और घट-गत साध्यताका नियामक या परिचायक धर्म्म, घटत्व है। अवच्छेदक सम्बन्ध और धर्म्म, जिसका अवच्छेद करते हैं, उसको अवच्छिन्न कहते हैं। साध्यताका जैसे अवच्छेदक सम्बन्ध वा धर्म्म है, प्रतियोगिता-का भी वैसे ही अवच्छेदक सम्बन्ध वा धर्म्म है। समवाय सम्बन्धसे वन्हिके अभावकी प्रतियोगिता, समवाय-सम्बन्धा-वच्छिन्न है। साध्यता-वच्छेदक जो संयोग सम्बन्ध है, तद्-वच्छिन्न नहीं है। महानसीय वन्हिके अभावकी प्रतियोगिता, महानसीय-वन्हित्वावच्छिन्न है, साध्यतावच्छेदक धर्म्म जो शुद्ध वन्हित्व है, तदवच्छिन्न नहीं है। अतएव पर्वतमें उक्त दो प्रकार-का अभाव रहनेपर भी धूममें वन्हिकी व्याप्तिको क्षति कुछ भी नहीं हो सकती। क्योंकि, समवाय-सम्बन्धावच्छिन्न वा महा-नसीय वन्हित्वावच्छिन्न जो प्रतियोगिता, तन्निरूपक अभाव, पर्वतमें रहने पर भी, संयोग-सम्बन्धावच्छिन्न एवम् शुद्ध-वन्हित्वावच्छिन्न जो प्रतियोगिता, तन्निरूपक अभाव पर्वत-में नहीं है।

जो कुछ आभास ऊपरमें दिखाया गया है, उसीसे बुद्धि-मान् समझ सकेंगे कि नव्य नैयायिकोंने अत्यन्त सूक्ष्म-दर्शिता और अद्भुत बुद्धिमत्ताका परिचय दिया है। उन्होंने दर्शन-शास्त्र-

में एक अभिनव प्रणालीका प्रचार कर दिया है। हमारे इस कथनमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है---उन्होंने दर्शन-शास्त्रमें युगान्तर उपस्थित कर दिया है। प्राचीन न्यायके साथ नव्य न्याय का मिलान करने पर, यह बात अच्छी तरह समझमें आ सकती है।
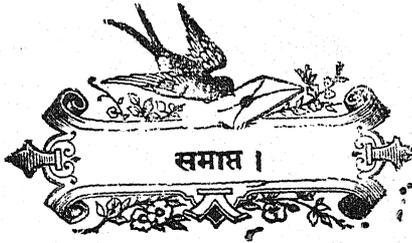
चार्वाक् दर्शन

भारतीय दर्शन-शास्त्रका दूसरा खण्ड—श्रीमाधवमिश्र-ग्रन्थावलीकी यह दूसरी संख्या छप रही है। इसमें चार्वाक् दर्शन मूल सानुवाद और उसके आचार्यकी जीवनी, चित्र एवं क्रमिक विकासका इतिहास तथा अन्यान्य दर्शनोंसे तुलना, माधवाचार्य प्रदर्शित स्वरूप इत्यादि विषय विशद और विस्तृत रूपसे सरल भाषामें वर्णन किये गये हैं। हिन्दी साहित्यमें यह बिलकुल अनोखी चीज है।

आख्यायिका सप्तक—स्वर्गीय पं० माधवप्रसादजी मिश्रकी रसमयी रचनाका यह आख्यायिका रूप फल है। इसमें मिश्रजीकी धार्मिक और सामाजिक ७ आख्यायिकाओंका संग्रह है। प्रत्येक आख्यायिकाके साथ एक एक सुन्दर चित्र है। धर्मके स्वरूप और समाजकी दशाका प्रकृत चित्र देखनेकी इच्छा रखनेवालोंको इसे अवश्य पढ़ना चाहिये। हिन्दीके गल्प साहित्यमें यह मौलिक रचना है।

भारतीय-गोधन—चिरकालके अन्वेषण और अनुशीलनसे यह ग्रन्थ तैयार हुआ है। इसका सङ्कलन ऐसे सर्वाङ्गीण भावसे किया गया है कि कोई विषय बच नहीं गया है। गोवंश माहात्म्य, गोवंशकी उपयोगिता, विलायती और देशी गौओंमें प्रभेद, गोचर भूमि, गोरक्षाका उपाय, गोपालकका कर्तव्य, गर्भ-

वती गौओंकी सेवा, दूधका व्यवसाय, गौओंका आहार, घास और उनकी रक्षा, कहांकी गौएं कैसी होती हैं, दूध दही घृत आदिके गुण एवं गौओंकी चिकित्सा प्रभृति,—कहांतक गिनावें गौओंके संबन्धमें जो कुछ भी आप जानना चाहें, भारतीय गोधन पढ़कर जान सकते हैं। बहुतसे सुन्दर हाफटोन चित्र दिये गये हैं। भगवान् कृष्णकी छवि देखकर आंखें तृप्त हो जायंगी। पृष्ठ संख्या ३०० से ऊपर। मू० २) सुनहरी जिल्द २॥)

मालविका—यह ग्रन्थ कविकुलगुरु कालिदासके ललित कला-पूर्ण नाटक मालविकाग्निमित्रका उपन्यास स्वरूप है। इसकी सरस रचना उपन्यास प्रेमियोंके आनन्दको बढ़ानेवाली है। टिप्पणीमें मूल श्लोक भी दे दिये गये हैं। स्थान स्थान पर प्रसङ्ग सूचक सुन्दर चित्र दिये गये हैं। पुस्तकके आरम्भमें महाकवि कालिदास और उनकी रचनापर विस्तृत आलोचनात्मक प्रस्तावना है। हिन्दी संसारमें इस ढङ्गका उपन्यास अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ।